मासिक समाचारपत्र ● पूर्णांक 25 ● वर्ष 3 ● अंक 7 ● सितम्बर 2013 ● पाँच रुपये ● सोलह पृष्ठ

मज़दूर बिगुल

पेरिस कम्यून की सचित्र गाथा 8-9-10
मुनाफ़े के लिए नकली दवाओं का ख़तरनाक कारोबार 13
16 दिसम्बर : क्यों बढ़ रहे हैं ऐसे जघन्य अपराध और प्रतिरोध का रास्ता क्या है 16

मेहनतकश साथियो! साम्प्रदायिक ताक़तों के ख़तरनाक इरादों को नाकाम करने के लिए फ़ौलादी एकता क़ायम करो!

सम्पादकीय अग्रलेख

मुज़फ़्फ़रनगर से शुरू होकर पश्चिमी उत्तर प्रदेश के कई ज़िलों में फैले दंगों में 50 से ज़्यादा बेगुनाह लोग बेरहमी से क़त्ल कर दिये गये हैं, बहुत से अब भी लापता हैं और 40 हज़ार से ज़्यादा लोग अपने गाँवों से उजड़कर कैम्पों में रहने को मजबूर हैं। साम्प्रदायिक ताक़तें अब भी लगातार अफ़वाहों और ज़हरीले प्रचार के ज़रिये तनाव और नफ़रत बढ़ाने में लगी हुई हैं। तमाम रिपोर्टों में अब यह बात सामने आ चुकी है कि साम्प्रदायिक फासीवादियों ने नकली वीडियो दिखाकर और अफ़वाहें फैलाकर योजनाबद्ध ढंग से दंगों की शुरुआत की। इस साज़िश में वे लम्बे समय से लगे हुए थे। केन्द्र और राज्य सरकारें दंगों को रोकने में नाकाम रहीं! वास्तव में, सरकार का मकसद दंगाइयों को रोकना था ही नहीं! अब यह भी साफ हो चुका है कि यह कोई दंगा नहीं था बल्कि गुजरात की तर्ज़ पर संगठित ढंग से अल्पसंख्यकों का क़त्लेआम किया गया। औरतों को वहशी तरीक़े से मारा गया और कइयों के साथ बलात्कार करने की भी ख़बरें आयी हैं। मरने वालों की संख्या भी 50 से कहीं ज़्यादा हो सकती है।

मुज़फ़्फ़रनगर की हिंसा ने यह भी संकेत दे दिया है कि शहरी आबादी को पूरी तरह ध्रुवीकृत कर देने के बाद साम्प्रदायिक संगठनों ने अपना ध्यान ग्रामीण क्षेत्रों पर केन्द्रित किया है। अगर वे अपनी कोशिश में कामयाब हो गये तो यह बेहद ख़तरनाक होगा।

इन दंगों के पीछे संघ परिवार के संगठनों की भूमिका बिल्कुल साफ है। उनका सीधा खेल है कि जितने हिन्दू मरेंगे, उतना ही हिन्दू डरेंगे और जितना ही वे डरेंगे उतना ही वह भाजपा के पक्ष में लामबन्द होंगे। दूसरी ओर उत्तर प्रदेश की सपा सरकार का गणित है कि मुसलमानों के अन्दर जितना डर पैदा होगा उतना ही वह समाजवादी पार्टी की ओर झुकेंगे। गुजरात में नरेन्द्र मोदी ने यही मॉडल और फार्मूला अपनाया था, और अब उत्तर प्रदेश में यही किया जा रहा है। गुजरात में नरसंहार के एक प्रमुख आयोजक और मोदी के दाहिने हाथ अमित शाह को इसी लिए उत्तर प्रदेश की कमान सौंपी गयी है। पिछले दिनों विहिप नेताओं के साथ मुलायम सिंह यादव की मुलाकातों और चौरासी कोसी परिक्रमा के मामले में दोनों की नूरांकुश्ती को भी इससे जोड़कर देखा जाना चाहिए।

चुनाव करीब आने के साथ ही देश भर में दंगों की राजनीति शुरू हो चुकी है। किसी भी पार्टी के पास कोई वास्तविक मुद्दा नहीं है, ऐसे में दंगों की आग पर रोटी सेंकने में वे पीछे क्यों रहेंगे? पिछले साल उत्तर प्रदेश में नौ दंगे हुए – कोसीकलां, प्रतापगढ़, सीतापुर, बरेली व बिजनौर में और फ़ैज़ाबाद व गाज़ियाबाद में दो-दो बार। महाराष्ट्र में पछोरा, बुलढ़ाना, रावेर (जलगाँव) व आकोट में दंगे हुये। आंध्रप्रदेश में रंगारेड्डी और हैदराबाद में साम्प्रदायिक हिंसा हुयी। गुजरात में बड़ौदा और दामनगर (अमरेली) में दंगे हुए। इस साल भी दंगों में कोई कमी नहीं आयी। धुले (महाराष्ट्र), नवादा (बिहार), किश्तवार (जम्मू एवम् कश्मीर) व उत्तर प्रदेश के कई शहरों में दंगे हो चुके हैं।

एक ओर नरेन्द्र मोदी यह ढोंग कर रहे हैं कि उनका चुनाव अभियान केवल विकास से जुड़े मुद्दों और सुशासन पर केन्द्रित है, वहीं संघ परिवार के विहिप सहित सभी सदस्य, मतदाताओं का ध्रुवीकरण करने के नए-नए उपाय खोज रहे हैं। विहिप द्वारा शुरू की गयी 84 कोसी परिक्रमा का यही उद्देश्य था। इस तरह की परिक्रमा की कोई धार्मिक परम्परा न होने के बावजूद, विहिप ने इस कार्यक्रम का आयोजन किया। संघ परिवार, साम्प्रदायिक हिंसा का उपयोग अपने जनाधार को विस्तार और अपने संगठन को मजबूती देने के लिये करता रहा है। और यह उसकी नीति है।

●

मुज़फ़्फ़रनगर में जिस योजनाबद्ध तरीके से पूरी तैयारी के साथ दंगा कराया गया यह संघ परिवार के ख़तरनाक इरादों को पूरी तरह उजागर कर देता है। दो युवकों के बीच मोटरसाइकिल लड़ने को लेकर झगड़े और हिंसा की घटना को पहले तो लड़की के साथ छेड़छाड़ के मामले के तौर पर प्रचारित किया गया। इसके बाद, किसी अन्य घटना का एक फर्ज़ी वीडियो, जो पुलिस के अनुसार दो साल पुराना है, सोशल नेटवर्किंग साइटों और मोबाइल फोनों के जरिए बड़े पैमाने पर प्रसारित किया गया। कहा गया कि यह वीडियो भीड़ द्वारा हिन्दू युवकों को पीट-पीट कर मार डालने की घटना का है। दरअसल यह वीडियो कुछ साल पहले पाकिस्तान में हुई एक घटना का था, जिसमें हिंसक भीड़ ने दो युवकों को डकैत होने के शक में घेरकर मार डाला था। भाजपा विधायक संगीत सोम द्वारा अपलोड किये गये इस नकली वीडियो से इलाके में अल्पसंख्यकों के विरुद्ध घृणा भड़कायी गयी। इस घटना पर जाट समुदाय ने पहले प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की। भाजपा के पारंपरिक समर्थकों ने दो युवकों की हत्या का बदला लेने के लिये जाटों को उकसाया। उधर एक बसपा नेता और कुछ अन्य नेताओं ने 30 अगस्त को मुसलमानों की बैठक करके खून का बदला खून से लेने का ऐलान कराया। इस बीच चार भाजपा विधायकों ने जाट महापंचायत का आयोजन किया।

(पेज 2 पर जारी)

1.
आओ भाई बेचू आओ
आओ भाई अशरफ आओ
मिल जुल करके छुरा चलाओ
मालिक रोजगार देता है
पेट काट-काट कर
छुरा मँगाओ
फिर मालिक की दुआ मनाओ
अपना-अपना धरम बचाओ
मिलजुल करके छुरा चलाओ
आपस में कटकर मर जाओ
छुरा चलाओ धरम बचाओ
आओ भाई आओ आओ

2.
छुरा भोंककर चिल्लाये –
हर हर शंकर
छुरा भोंककर चिल्लाये –
अल्लाहो अकबर
शोर खत्म होने पर
जो कुछ बच रहा
वह था छुरा
और
बहता लोहू...

3.
इस बार दंगा बहुत बड़ा था
खूब हुई थी
खून की बारिश
अगले साल अच्छी होगी
फसल
मतदान की

– गोरख पाण्डेय

बजा बिगुल मेहनतकश जाग, चिंगारी से लगेगी आग!

साम्प्रदायिक ताक़तों के ख़तरनाक इरादों को नाकाम करने के लिए फ़ौलादी एकता क़ायम करो!

(पेज 1 से आगे)

प्रतिबन्धात्मक धाराएँ लागू होने के बावजूद, महापंचायत में बन्दूकों, तलवारों व अन्य घातक हथियारों से लैस करीब एक लाख जाटों ने भाग लिया। कुल तीन महापंचायतें हुयीं और उनमें निहायत भड़काऊ भाषण दिये गये। ऐसा आरोप है कि जाट महापंचायतों में लगाये गये नारों में से एक था "मुसलमान के दो ही स्थान, पाकिस्तान या कब्रिस्तान।"

इसके काफी पहले से मुज़फ़्फ़रनगर क्षेत्र में यह प्रचार किया गया कि 'हमारी बेटियाँ और बहुएँ सुरक्षित नहीं हैं।' सभी जातिवादी-साम्प्रदायिक संगठन पितृसत्तात्मक मूल्यों में विश्वास रखते हैं। अत: आश्चर्य नहीं कि "बहू-बेटी बचाओ" के नारे से भड़के हज़ारों जाट हथियारबंद होकर महापंचायत में इकटठा हो गए। साम्प्रदायिक दुष्प्रचार ने गति पकड़ी और देश में पहली बार, ग्रामीण क्षेत्रों में साम्प्रदायिक हिंसा भड़क उठी। भाजपा की जाटों में पैठ नहीं है परन्तु उसने अत्यंत कुटिलतापूर्वक इस घटना का उपयोग अपनी विभाजनकारी राजनीति को मजबूती देने के लिये किया। मोदी को हिन्दुओं के उद्धारक के रूप में प्रस्तुत किया गया और जाटों को अपनी जातिगत पहचान त्याग कर, हिन्दू पहचान पर जोर देने के लिये प्रेरित किया गया। मुस्लिम गुटों ने भी हिंसा में भाग लिया। परन्तु पूर्वाग्रहग्रस्त पुलिसतंत्र ने एकतरफा कार्यवाही की। नतीजा यह हुआ कि हिंसा के शिकार मुख्यत: अल्पसंख्यक बने। उनमें से कई को अपने घरबार छोड़कर भागना पड़ा। दर्जनों मकानों में आग लगा दी गयी, 40,000 लोगों को अपने घर-बार छोड़कर राहत शिविरों में शरण लेनी पड़ी और कम से कम 53 लोग मारे गये। 15 सितम्बर के 'टाइम्स आफ इंडिया' ने दंगों में मारे गये 53 लोगों की लाशों का पोस्टमार्टम करने वाले डॉक्टरों के हवाले से लिखा कि जिस वहशियाना तरीके से ये हत्याएँ की गयी थीं, उसे देखकर डॉक्टर भी काँप उठे। कई मामलों में महिलाओं के यौनांग कटे-फटे पाये गये। पुलिस, हमेशा की तरह, हिंसा की मूकदर्शक बनी रही।

इससे पहले भी, भागलपुर, नेल्ली, गुजरात और असम के बोडो इलाके में हुए दंगों में ग्रामीण क्षेत्रों में साम्प्रदायिक हिंसा हुई थी लेकिन यह मूलत: शहरी क्षेत्रों में होने वाली हिंसा का आसपास के गाँवों में विस्तार भर था। मगर, मुज़फ़्फ़रनगर, शामली और मेरठ में हिंसा मुख्यतया ग्रामीण क्षेत्रों में हुई। मुज़फ़्फ़रनगर दंगों में बेघर हुये लोगों की संख्या, उत्तरप्रदेश में अब तक हुए किसी भी दंगे से कहीं ज्यादा है। भयग्रस्त विस्थापितों का कहना है कि वे अब कभी अपने गाँवों में वापस नहीं जा पायेंगे।

इन दंगों से भाजपा और संघ परिवार को तो सबसे अधिक फायदा होने की उम्मीद है ही, लेकिन वोटों के मुस्लिम वोटों के ध्रुवीकरण से सपा भी लाभ पाने की आशा लगाये हुए है। दंगों के बाद भी जिस तरह से लखनऊ में विधानसभा के ऐन सामने भाजपा विधायक हीरो बने घूम रहे थे और पुलिस को खुली चुनौती दे रहे थे, उससे भी सरकार की मिलीभगत ज़ाहिर है। जहाँ तक पुलिस और प्रशासन की भूमिका का प्रश्न है, उसके बारे में जितना कम कहा जाये उतना बेहतर। प्रशासन और पुलिस में नीचे से लेकर ऊपर तक, पूर्वाग्रहग्रस्त और साम्प्रदायिक अधिकारी-कर्मचारी भरे हुए हैं। और अगर सत्तारूढ़ पार्टी खुद यह तय कर ले कि हिंसा से उसे चुनावी लाभ उठाना है तो ज़ाहिर है हिंसा भड़केगी ही और उसे तब तक चलने दिया जायेगा जब तक कि सम्बन्धित पक्षों को यह न लगने लगे कि उन्हें जो लाभ मिलना था, वह मिल चुका है।

मुज़फ़्फ़रनगर दंगों में भाजपा की भागीदारी और समाजवादी पार्टी की आपराधिक मिलीभगत से यह साफ है कि उत्तर प्रदेश को गुजरात बनाने के संघी फार्मूले को लागू करने की उसी प्रक्रिया की एक कड़ी है, जिस पर अमल की शुरुआत जून 2012 में मथुरा के कोसी कलां में हुए दंगों से हो गयी थी। वहाँ दो जुड़वा भाइयों को बिल्कुल उसी अंदाज़ में ज़िन्दा जला दिया गया था जिस तरह से गुजरात के दंगों में सैकड़ों मुसलमानों को जलाया गया था। इस अनुभव की सफलता के बाद नरेन्द्र मोदी के दाहिने हाथ अमित शाह प्रदेश को कमान दी गयी और उसने 9 जुलाई 2013 को गोरखपुर में जो ज़हर उगला उसने उत्तर प्रदेश को गुजरात बनाने की प्रक्रिया पर मुहर लगा दी थी। अमित शाह ने पार्टी के ज़िला कार्यकारणी की बैठक में कहा कि 'जिस हिन्दू का खून न खौले, खून नहीं वह पानी है'। आज यही नारा उत्तर प्रदेश में संघी संगठनों के घातक प्रचार का मुख्य नारा बना हुआ है।

ऐसे समय में हम मेहनतकश साथियों और आम नागरिकों से कहना चाहते हैं कि तमाम साम्प्रदायिक फासीवादियों के भड़काऊ बयानों से अपने खून में उबाल लाने से पहले खुद से पूछिये: क्या ऐसे दंगों में कभी तोगड़िया, ओवैसी, आज़म खाँ, मुलायमसिंह यादव, राज ठाकरे, आडवाणी या मोदी जैसे लोग मरते हैं? क्या कभी उनके बच्चों का कत्ल होता है? क्या कभी उनके घर जलते हैं? हमारे लोगों की बेनाम लाशें सड़कों पर पड़ी धू-धू जलतीं हैं। सारे के सारे धार्मिक कट्टरपन्थी तो भड़काऊ बयान देकर अपनी ज़ेड श्रेणी की सुरक्षा, पुलिस और गाड़ियों के रेले के साथ अपने महलों में वापस लौट जाते हैं। और हम उनके झाँसे में आकर अपने ही वर्ग भाइयों से लड़ते हैं।

सपा की अखिलेश सरकार जहाँ एक समुदाय का हितैषी बन अपने वोट बैंक को सुरक्षित कर रही है, वहीं भाजपा, संघ परिवार धार्मिक उन्माद फैलाकर देश स्तर पर साम्प्रदायिक माहौल तैयार कर रह है। भाजपा और भगवा ब्रिगेड नरेन्द्र मोदी के फासीवादी उग्र हिन्दुत्व की रणनीति पर अमल कर फिर से सत्ता की मलाई चखने का मंसूबा बाँधे हुए है। भगवा गिरोह समझ चुका है कि अगले लोकसभा चुनाव में 80 सांसदों वाले उत्तर प्रदेश में साम्प्रदायिक बँटवारा करके ही वह केन्द्र की सत्ता तक पहुँच सकता है। वहीं कांग्रेस ने भी नरम हिन्दुत्व कार्ड खेलने के साथ ही मुसलमानों को भरमाने का खेल शुरू कर दिया हैं। कांग्रेस चालाकी के साथ धर्मनिरपेक्षता की बातें करते हुए, कभी हिन्दुओं को रिझाने के लिए कुछ कदम उठाती है, और ज़रूरत पड़ने पर अपने आपको साम्प्रदायिक फासीवाद के एकमात्र विकल्प के रूप में पेश करती है।

भाजपा के हिन्दुत्ववादी एजेण्डे को बढ़ाने में हमेशा की तरह हिन्दू कट्टरपंथी ताक़तें जुटी हुई हैं, साथ ही मुस्लिम कट्टरपन्थी ताकतें भी इसमें पूरी मदद कर रही हैं। क्योंकि वास्तव मे जब भी साम्प्रदायिक फासीवाद पनपता है, तो उससे केवल बहुसंख्यवादी हिन्दुत्व फासीवादी को ही नहीं, बल्कि अल्पसंख्यक इस्लामी कट्टरपंथ को भी खाद-पानी मिलता है। ये सारे कठमुल्ले जानते हैं अगर हिन्दू और मुसलमान ग़रीब जनता रोज़गार, शिक्षा, चिकित्सा और बेहतर सुविधाओं के लिए वर्गीय आधार पर एकजुट और गोलबन्द होने लगी तो हिन्दुत्वादी कट्टरपन्थियों के साथ-साथ मुस्लिम कट्टरपन्थियों की दुकानें भी तो बन्द हो जायेंगी। इसलिए देश में कट्टरपंथी ताक़तें आम जनता को धार्मिक, जातिगत, क्षेत्रगत या भाषागत तौर पर बाँटकर पूँजीवादी व्यवस्था के ख़िलाफ़ चलने वाले संघर्ष की धार को कुन्द करने का काम करती है। ऐसे में सभी चुनावबाज़ पार्टियों के पास 'बाँटो और राज करो' के अलावा चुनाव जीतने का और कोई हथकण्डा नहीं बचता। मगर मेहनतकशों को इनके गन्दे इरादों को पहचान लेना होगा और उन्हें नाकाम करने के लिए अपनी फ़ौलादी एकजुटता क़ायम करनी होगी।

मज़दूर बिगुल की नयी वेबसाइट
आप यहाँ देख सकते हैं:
www.mazdoorbigul.net

इस वेबसाइट पर दिसम्बर 2007 से अब तक बिगुल के सभी अंक क्रमवार, उससे पहले के कुछ अंकों की महत्वपूर्ण सामग्री तथा राहुल फ़ाउण्डेशन से प्रकाशित सभी बिगुल पुस्तिकाएँ उपलब्ध हैं। हम बिगुल के प्रवेशांक से लेकर अब तक के सभी अंक वेबसाइट पर उपलब्ध कराने के लिए काम कर रहे हैं।

आप इस वेबसाइट पर जाकर भी बिगुल की सामग्री पर अपने विचार व्यक्त कर सकते हैं या कोई रिपोर्ट आदि हमें भेज सकते हैं।

मज़दूर बिगुल **'जनचेतना'** की सभी शाखाओं पर उपलब्ध है :

- **डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020 फोन : 0522-2786782**
- **जनचेतना स्टाल, काफ़ी हाउस बिल्डिंग, हज़रतगंज, लखनऊ (शाम 5 से 8 बजे)**
- **114, जनता मार्केट, रेलवे बस स्टेशन रोड, गोरखपुर-273009**
- **जनचेतना, दिल्ली – फ़ोन : 09971158783**
- **जनचेतना, लुधियाना – फोन : 09815587807**

मज़दूर बिगुल का स्वरूप, उद्देश्य और ज़िम्मेदारियाँ

1. 'मज़दूर बिगुल' व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षक और प्रचारक का काम करेगा। यह मज़दूरों के बीच क्रान्तिकारी वैज्ञानिक विचारधारा का प्रचार करेगा और सच्ची सर्वहारा संस्कृति का प्रचार करेगा। यह दुनिया की क्रान्तियों के इतिहास और शिक्षाओं से, अपने देश के वर्ग संघर्षों और मज़दूर आन्दोलन के इतिहास और सबक़ से मज़दूर वर्ग को परिचित करायेगा तथा तमाम पूँजीवादी अफ़वाहों-कुप्रचारों का भण्डाफोड़ करेगा।

2. 'मज़दूर बिगुल' देश और दुनिया की राजनीतिक घटनाओं और आर्थिक स्थितियों के सही विश्लेषण से मज़दूर वर्ग को शिक्षित करने का काम करेगा।

3. 'मज़दूर बिगुल' भारतीय क्रान्ति के स्वरूप, रास्ते और समस्याओं के बारे में क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के बीच जारी बहसों को नियमित रूप से छापेगा और स्वयं ऐसी बहसें लगातार चलायेगा ताकि मज़दूरों की राजनीतिक शिक्षा हो तथा वे सही लाइन की सोच-समझ से लैस होकर क्रान्तिकारी पार्टी के बनने की प्रक्रिया में शामिल हो सकें और व्यवहार में सही लाइन के सत्यापन का आधार तैयार हो।

4. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के बीच लगातार राजनीतिक प्रचार और शिक्षा की कार्रवाई चलाते हुए सर्वहारा क्रान्ति के ऐतिहासिक मिशन से उसे परिचित करायेगा, उसे आर्थिक संघर्षों के साथ ही राजनीतिक अधिकारों के लिए भी लड़ना सिखायेगा, दुअन्नी-चवन्नीवादी भूजाछोर "कम्युनिस्टों" और पूँजीवादी पार्टियों के दुमछल्ले या व्यक्तिवादी-अराजकतावादी ट्रेडयूनियनबाज़ों से आगाह करते हुए उसे हर तरह के अर्थवाद और सुधारवाद से लड़ना सिखायेगा तथा उसे सच्ची क्रान्तिकारी चेतना से लैस करेगा। यह सर्वहारा की क़तारों से क्रान्तिकारी भरती के काम में सहयोगी बनेगा।

5. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के क्रान्तिकारी शिक्षक, प्रचारक और आह्वानकर्ता के अतिरिक्त क्रान्तिकारी संगठनकर्ता और आन्दोलन कर्ता की भी भूमिका निभायेगा।

मज़दूर बिगुल

सम्पादकीय कार्यालय	: 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006 फ़ोन : 0522-2335237
दिल्ली सम्पर्क	: बी-100, मुकुन्द विहार, करावलनगर, दिल्ली-94, फ़ोन: 011-64623928
ईमेल	: bigul@rediffmail.com
मूल्य	: एक प्रति – रु. 5/- वार्षिक – रु. 70/- (डाक खर्च सहित)

नारकीय जीवन जीने को मजबूर हैं गुड़गाँव में काम करने वाले सफाई कर्मचारी, गार्ड और अन्य मज़दूर

मैं गुड़गाँव के उद्योग विहार फेज़ 4 में स्थित एक कम्पनी में काम करता हूँ। कम्पनी के गेट के अन्दर प्रवेश करते ही आपको हर तरफ साफ-सफाई और हर चीज खूबसूरत नजर आयेगी, परन्तु इस पूरी चमक-दमक के पीछे जिन लोगों की मेहनत है वो एकदम जानवरों सी ज़िन्दगी जीने को मजबूर हैं। यहाँ काम करने वाले सफाई कर्मचारी, सुरक्षा गार्ड, कैंटीन मे बतौर हेल्पर काम करने वाले मज़दूर ठेके पर 4000-5000 रुपये मासिक वेतन पर बिना किसी सामाजिक सुरक्षा के काम करते हैं और यही हाल यहाँ पर स्थित हर छोटी-बड़ी कम्पनी का है। ज़ाहिर सी बात है कि इतने कम वेतन पर आज के समय में दो वक्त की रोटी कमाना भी नामुनकिन है इसलिए इन लोगो को 12-14 घण्टे और कभी-कभी तो 17-18 घण्टे तक ओवर टाइम लगाना पड़ता है ताकि अपने और अपने परिवार का पेट पाल सके।

मज़दूर और मेहनतकश आवाम जो हर चीज पैदा करते हैं, जिसके दम पर यह सारी चमक-दमक और शानो-शौकत है वो खुद किस तरह अपनी जिन्दगी जी रही है इसका कुछ अन्दाज़ा यहाँ रमन बाबू नामक एक नौजवान मज़दूर की बातचीत सुनकर पता चलता है। रमन बाबू मेरी कम्पनी में सफाई कर्मचारी के तौर पर काम करता है, पूछने पर उसने बताया कि वो यू.पी के किसी गाँव का रहने वाला है। उसके परिवार में पिताजी, बहन और एक बड़ा भाई है, मैट्रिक में ही उसे अपनी पढ़ाई बीच में छोड़ पिताजी की बीमारी के इलाज और बहन की शादी के लिए पैसे जुटाने के लिए मेहनत मज़दूरी करने को मजबूर होना पड़ा। इस कम्पनी में काम करते हुए भी उसे एक साल से ऊपर हो चुका है परन्तु ना तो उसका अब तक उसका ईएसआई कार्ड बना है और न ही उसे अब तक नियमित किया गया है।

जबकि श्रम कानूनों के अनुसार सबसे पहले तो ठेका प्रथा ही गैर-कानूनी है, दूसरी बात यह है कि अगर आपको किसी कम्पनी में काम करते हुए एक साल या उससे अधिक समय हो चुका है तो आप उस कम्पनी के नियमित कर्मचारी हो जाते है। जिसके अनुसार जो सुविधाएँ बाकी नियमित कर्मचारियों को प्राप्त है जैसे कि ईएसआई कार्ड, मेडिकल बीमा, वार्षिक वेतन वृद्धि आदि वह सब सुविधाएँ उसे भी मिलनी चाहिए परन्तु इनमें से कोई भी सुविधा उन लोगो को प्राप्त नहीं हैं जबकि कानूनन हम इसके हक़दार है। ऐसी स्थिति के पीछे जो सबसे प्रमुख कारण है वह यह है कि हमे अपने अधिकारों का ज्ञान ही नही है और जब तक हम अपने अधिकारों को जानेंगे नही तब तक हम यूँ ही धोखे खाते रहेंगे। दूसरा सबसे प्रमुख कारण है हमारे बीच किसी क्रान्तिकारी मज़दूर संगठन का अभाव जिसके चलते हम मालिकों की मनमानी सहने को मजबूर हैं, आज भारत की कुल मज़दूर आबादी में से 93 प्रतिशत मज़दूर आबादी असंगठित क्षेत्र में बिना किसी अधिकार और सामाजिक सुरक्षा के बेहद खराब परिस्थितियों में काम करने को मजबूर है। यह मज़दूर आबादी भयंकर शोषण का शिकार है, इसलिए आज हमारे सामने सबसे प्रमुख काम है इस विशालकाय मज़दूर आबादी को संगठित करने का और इसके लिए जरूरी है कि पहले हम खुद अपने अधिकारों के प्रति जागरूक हों और फिर इन विचारों को अपने बाकी मज़दूर साथियों तक पहुँचायें ताकि एक व्यापक मज़दूर एकता कायम की जा सके। अब वक्त आ गया है कि हम अपने दुश्मनों और दोस्तों की साफ-साफ पहचान कर लें। पूँजीपति और पूँजीपतियों की मैनेजिंग कमेटी का काम करने वाली हाथ, कमल और नकली लाल झंडे वाली तमाम चुनावी पार्टियाँ और उनके भ्रष्ट मंत्री कभी भी हमारे दोस्त नही हो सकते भले ही वो कितनी ही बड़ी-बड़ी बाते कर ले। सरकार द्वारा गरीबी और भुखमरी हटाने के नाम पर चलने वाली तमाम योजनाएँ हमारी आँखो में धूल झोंकने के लिए है। सबको समान शिक्षा, रोज़गार और स्वास्थ्य सुविधाएँ प्रदान करवाना सरकार का फ़र्ज़ बनता है और यह हमारा अधिकार भी है, अगर वह यह कर पाने में असफल रहती है तो उसे कुर्सी पर रहने का कोई हक नही है फिर चाहे वो किसी भी पार्टी कि सरकार हो। हमे भगत सिंह की यह बात हमेशा याद रखनी चाहिए कि हक मिलते नहीं, उन्हें हमेशा हासिल करना पड़ता है। इसलिए अब वक्त आ गया है कि हम जाति-धर्म के झगड़े को छोड़ लूट-खसूट पर टिकी इस पूरी पूँजीवादी व्यवस्था के खिलाफ लड़ने के लिए तैयार हो जायें। ताकि हमारी आने वाली पीढ़ियाँ एक शोषण मुक्त समाज मे साँस ले सकें।

– मनन

कम गुणवत्ता वाली और नकली दवाओं के कारोबार की एक छोटी-सी झलक

(पेज 12 से आगे)

का इस्तेमाल इन दवाओं के नाकाम होने के मुख्य कारणों में से है। घटिया दवाओं का एक बड़ा हिस्सा इस प्रकार का होता है जिसमे दवा तो सही होती है किन्तु उसकी मात्रा तय किये पैमाने से बेहद कम होती है। अत: इस प्रकार की दवाई बैक्टीरिया आदि पर असर करने में नाकाम रहती है, किन्तु बैक्टीरिया आदि जीवाणुओं के द्वारा सुरक्षा कवच विकसित करने हेतु अधिक अनुकूल वातावरण पैदा करती है। फिर जब इस प्रकार के बैक्टीरिया आदि का संक्रमण किसी मनुष्य को प्रभावित करता है तो उस पर पहले प्रभावी ढंग से काम करती दवाएँ भी निष्प्रभावी हो जाती हैं।

अक्सर यह कहा जाता है कि इस कारोबार को रोकने के लिए सख़्त क़ानून नहीं हैं, इसलिए तीसरी दुनिया के देशों में नकली दवाओं का कारोबार विकसित देशों से अधिक फल-फूल रहा है। यह बात सही है कि सख़्त क़ानूनों की बहुत सारे देशों ख़ासकर अफ्रीकी मुल्कों में कमी है पर क़ानूनों का हाल हम भारत में रोज़ देखते हैं। कुछ लोगों और बुद्धिजीवियों का ख़्याल है कि कड़े क़ानून बने और लागू हों तो इस कारोबार को रोका जा सकता है, आखिर अमेरिका, ब्रिटेन और अन्य विकसित यूरोपीय देशों में भी यह धन्धा उतने ही बड़े स्तर पर नहीं फैला है जितना हमारे देशों में फैला हुआ है और इसका कारण वह "कड़ा क़ानून" समझते हैं। पर यह एकदम कल्पित और "दूर के ढोल सुहाने" वाली बात है और साथ ही यह विकसित देशों और तीसरी दुनिया के देशों के ऐतिहासिक विकास में अन्तर और मौजूदा संसार पूंजीवादी ढाँचे के भीतर उनकी स्थिति की तरफ से आँखें मूँद के सोचना है। विदेशी और देशी पूंजी के गठजोड़ की लूट के शिकार इन देशों में कठोर क़ानून बनने भी मुश्किल है, और अगर बन भी जाते हैं तो ऐसे क़ानूनों का लागू होना मुश्किल ही नहीं, लगभग ना-मुमकिन है। अमेरिका जैसे विकसित देशों में भी क़ानून और नियामक संस्थाएं कितना प्रभावी काम करती हैं, यह रैनबैक्सी मामले ने ही स्पष्ट कर दिया है।

फिर यह कहा जाता है कि जनता में जागरूकता का अभाव है। यह बात भी ऐसे ही है, चाहे जितनी भी जानकारी किसी के पास हो, नकली या घटिया दवाओं का कारोबार इतनी "विकसित तकनीक" के साथ होता है कि बेहद जानकार व्यक्ति ही नकली दवाओं को पकड़ सकता है, और बहुत हद तक तो यह प्रयोगशाला में परीक्षण के द्वारा ही सम्भव हो सकता है। कुछ कम्पनियों ने "होलोग्राम" बनाकर अपनी दवाओं की पहचान अलग करने का प्रयास किया मगर "व्यवसायियों" ने होलोग्राम बना लिये। दवाओं के पत्ते बनाना तो खैर कोई बड़ा मुद्दा है नहीं। दूसरी बात, यदि आम लोगों में जानकारी का अभाव है तो इसका अर्थ यह नहीं कि उनको लूटा जाये, उनके साथ जालसाज़ी की जाये। यह सब केवल निजी सम्पत्ति और मुनाफे की बुनियाद पर आधारित ढाँचे में ही सोचा जा सकता है। अन्य कुछ लोगों का मानना है कि दवाओं की माँग अधिक है और ब्रांडेड दवाओं की कीमत अधिक है जिस कारण लोग सस्ती दवाओं की तलाश में घटिया और नकली दवाओं के चक्कर में आ जाते हैं। यह बात ठीक है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि ब्रांडेड दवाओं वाले लूटते नहीं है, लूटते दोनों ही हैं, और दूसरा यह प्रश्न भी पूछा जाना चाहिए कि दवाओं के दाम इतने अधिक होते ही क्यों हैं? यह भी कहा जाता है कि सरकारी सप्लाई न होने के कारण लोगों को बाहर से दवाई खरीदनी पड़ती है जिस कारण वह नकली और घटिया दवाओं के जाल में फँस जाते हैं। किन्तु एक बार फिर यह सवाल गोल कर दिया जाता है कि सरकारी सप्लाई क्यों नहीं है? कुछ अन्य लोगों के कहना है कि नकली दवाई बनाने के लिए बड़े कारखाने या स्थान की आवश्यकता नहीं होती, लागत भी कम होती है और मुनाफा घना होता है, अत: नकली और घटिया दवाओं का कारोबार बढ़ता-फूलता है। एक और बड़ा ही दिलचस्प कारण यह है कि नकली और घटिया दवाओं के बढ़ने-फूलने के पीछे। अक्सर बहुत से रोग ऐसे होते हैं जिनको शरीर के रोग-विरोधी सुरक्षा ढाँचे ने स्वयं ही ठीक कर लेना होता है और दवाओं की आवश्यकता नहीं पड़ती। इसके अलावा आम वायरल बुखार में जीवाणुनाशक दवाओं की आवश्यकता नहीं होती। ऐसे मामलों में कम गुणवत्ता वाली या नकली दवाएं बगैर किसी हानि के दी जा सकती है क्योंकि उनकी वैसे ही कोई आवश्यकता नहीं होती और कमाई भी अच्छी करवा देती हैं। यह सब बातें अपनी जगह ठीक हैं, किन्तु इनकी बुनियाद क्या है? इस सवाल पर आकर सब मैगजीन, अखबार, मौन धारण कर लेते हैं क्योंकि इसके बाद उँगली पूँजीवादी आर्थिक ढाँचे पर उठती है और सम्पूर्ण विश्लेषण का हल्कापन तथा खोखलापन सामने आ जाता है।

सरकार इस कारोबार को रोकने का कोई प्रयत्न करेगी, इसकी कोई भी उम्मीद किसी होशमन्द व्यक्ति को शायद ही हो। भारत में 3200 दवा निरीक्षकों (इंस्पेक्टरों) की आवश्यकता है जबकि मौजूदा समय में केवल 846 दवा निरीक्षक हैं। जो हैं भी उनमे से कितने पूर्ण ईमानदारी से अपना काम करते होंगे, भारत की मौजूदा परिस्थितियों में फैले भ्रष्टाचार के जाल को देखते हुए समझा ही जा सकता है। आँकड़ों को तोड़-मरोड़ कर प्रस्तुत करना, समस्या को घटाकर पेश करना और जब बिलकुल ही मामला बिगड़ता हुआ प्रतीत हो (जैसे रैनबक्सी मामला) तो खुले आम कम्पनियों की पक्ष लेना, यही है जो सरकार कर सकती है। जन पक्षधर संगठनों द्वारा इस कारोबार का सच जनता तक लेकर जाना, तथा इसका हर तरीके से विरोध करना लाजमी है किन्तु जिस तबके की तरफ से इस कारोबार की सच्चाई का पर्दाफाश और विरोध सर्वप्रथम होना चाहिए वह है डॉक्टरों का तबका, किन्तु यह तबका धूर्त मौन धारण किये बैठा है। डॉक्टरों के लिए यह केवल आम लोगों की जिन्दगियों से खिलवाड़ का ही मसला नहीं है (निस्सन्देह यह सबसे महत्वपूर्ण है) उनके लिए तो यह विज्ञान की सुरक्षा का मामला भी है चूंकि जैसा कि हमने ऊपर जिक्र किया है, नकली और घटिया दवाओं से चिकित्सा विज्ञान की हासिल की गई उपलब्धियों के मिटटी में मिल जाने का खतरा खड़ा हो गया है । दूसरी बात, यह विज्ञान के प्रति समर्पण और सच्चाई की बात है, विज्ञान से जुड़ा कोई भी व्यक्ति विज्ञान के नाम पर आम लोगों से खिलवाड़ कैसे बर्दाश्त कर सकता है? किन्तु अफसोस इस बात का है कि जिस विज्ञान पर आश्रित रहकर यह डॉक्टर तबका अपने महल खड़े करता है, लम्बी लक्जरी गाड़ियों में घूमता है, उसकी रक्षा हेतु कुछ करना तो दूर बहुत हद तक वह इस काले कारोबार में हिस्सेदार बने हुए हैं। अधिकतर डॉक्टरों के लिए तो यह एक धन्धा, एक व्यापार है और इस व्यापार से जुटायी हुई दौलत से वह कई अन्य "व्यापार" चला चुके हैं। सम्भावना भी यही है कि यह तबका कुछ करेगा भी नहीं, और आज के ऐतिहासिक मुकाम पर आकर विज्ञान की रक्षा की जिम्मेदारी भी श्रमिक वर्ग ही उठाएगा। हाँ, इस डॉक्टर तबके में से कुछ प्रबुद्ध, संवेदनशील आत्मा वाले लोग अवश्य इस कार्य हेतु आगे आयेंगे।

आख़िर कब बदलेगी सफ़ाईकर्मियों की ज़िन्दगी?

देश के सफ़ाई लाखों कर्मचारी आज भी बेहद बुरे हालात में काम करने और जीने को मजबूर हैं। दिल्ली में पिछली 14 जुलाई को हुई घटना इसका जीता-जागता उदाहरण है। दिल्ली के इन्दिरा गाँधी क़ौमी कला केन्द्र में 14 जुलाई की रात साढ़े आठ बजे तीन सफ़ाईकर्मी अशोक, राजेश और सतीश गटर साफ़ करते हुए मौत के शिकार हो गये। ये तीनों कर्मी प्रत्यक्ष तौर पर इसी संस्था के कर्मी थे या इसके द्वारा आगे किसी और कम्पनी द्वारा काम पर रखे गये थे, इस बारे में कुछ भी पता नहीं। वे इन्दिरा गाँधी क़ौमी कला केन्द्र की ए.सी. बिल्डिंग में 6 गटर साफ़ करने के लिए गये थे। इस बिल्डिंग में जाने से पहले गेट के रजिस्टर में अपना नाम आदि दर्ज करना होता है। इसके बिना कोई भी अन्दर नहीं जा सकता। तीनों के पास केन्द्र का पहचान पत्र भी था। वे मोबाइल फ़ोन भी साथ लेकर गये थे। हमारे देश में ग़रीब मेहनतकशों की ज़िन्दगी की कितनी क़ीमत है, अगर आप इस बारे में किसी भ्रम के शिकार नहीं हैं तो आपको इसमें बिल्कुल भी हैरानी नहीं होगी कि देर रात तक मृतक कर्मचारियों के परिवारों को कोई सूचना नहीं पहुँचायी गयी। कला केन्द्र के अधिकारियों ने तो तीनों को अपना कर्मचारी मानने, ग़लती मानने, माफ़ी माँगने और मृतकों के परिवारों से मिलने को साफ़ मना कर दिया। पुलिस ने तो लाशों को पहचानने से भी इनकार कर दिया था। पुलिस द्वारा परिवारों को सौंपे गये क़ागज़ों में मौत के कारणों और जगह के बारे में भी सही जानकारी नहीं दी गयी। कहा गया कि सड़क पर लावारिस लाशें मिली हैं।

सीवरेज गटरों और पाइपों की सफ़ाई का काम भारत में मुख्य तौर पर आज भी बिना मशीनों के ही होता है। गटर में कर्मियों को घुसाकर सफ़ाई करवानी ग़ैरक़ानूनी है। इस पर रोकथाम के लिए भारत में 1993 में 'इम्प्लायमेण्ट ऑफ़ मैनुअल स्कैवेंजर्ज़ एण्ड कंस्ट्रक्शन ऑफ़ ड्राई लैट्रीन्स (प्रोहिबिशन) एक्ट' बना था। पर यह क़ानून लागू नहीं होता है। फ़रवरी 2013 में ही दिल्ली सरकार ने घोषणा की थी कि यह पहला सूबा है जहाँ हाथ से मैला साफ़ करने पर पूर्ण पाबन्दी लगा दी गयी है। पर जैसे कि हमारे देश में मज़दूरों-मेहनतकशों के हित में बने बाक़ी क़ानूनों की धज्जियाँ उड़ाई जाती हैं, वैसे ही इस क़ानून के साथ भी होता है। देश की राजधानी दिल्ली भी इस मामले में अपवाद नहीं है। दिल्ली में सफ़ाईकर्मियों की इन मौतों के दोषी क़ौमी कला केन्द्र के अधिकारी हैं पर पुलिस की मिलीभगत के कारण उनका बाल भी बाँका नहीं हुआ। कहने की ज़रूरत नहीं कि पीड़ित ग़रीब परिवारों को किसी भी तरह का मुआवज़ा नहीं मिला।

देश में 3,40,000 लोग तो ऐसे हैं, जो आज भी मुफले जैसे औज़ारों से मैला उठाते हैं और बाल्टियों या तसलों में सिर पर ढोते हैं। इसके अलावा भारत के बेहद पिछड़े, घटिया दर्जे के सीवरेज प्रबन्ध में काम करने वाले कर्मियों को भी ये काम बहुत हद तक ना सिर्फ़ हाथ से करना पड़ता है, बल्कि उन्हें तो गटरों में भी उतरना पड़ता है। इस नज़र से देखा जाये तो हालत पहले से भी ज़्यादा बिगड़ रही है। इन कर्मियों की कुल संख्या लगभग 13 लाख है। क़ानून तोड़ने में सबसे आगे भारतीय रेलवे है। ग़रीबी, बदहाली और सामाजिक अलगाव और बन्धन झेल रही तथाकथित निचली जातियाँ मानवद्रोही ढंग से करवाये जाने वाले ये सफ़ाई के काम करने के लिए मजबूर हैं। इनमें भी ज़्यादातर औरतें हैं। यह भी एक त्रासदी ही है कि आज के इतने विकसित तकनीकी युग में भी इंसान को इस तरह के काम करने पड़ रहे हैं। देश के शोषक पूँजीपति वर्ग को लोगों की कोई चिन्ता नहीं। उन्हें तो बस अपना काम करवाने से मतलब है। ये काम मशीनें करें या इन्सान, कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता। सरकारी ख़ज़ाना पूँजीपतियों को सब्सिडी देने, संसद-विधानसभा में बहसबाज़ी करने वाले नेताओं और अफ़सरों की अय्याशियों, तनख़्वाहों-भत्तों पर खुले दिल से लुटाया जाता है। (इस पर सारे वोट-बटोरू अपने सारे "मतभेद" भुलाकर एकजुट हैं) पर ये ना तो सफ़ाईकर्मियों के हालात को बेहतर बनाने के लिए लगाया जा रहा है और ना ही ग़रीब लोगों के साफ़-सफ़ाई के पुख्ता प्रबन्ध मुहैया करवाने के लिए ही। भारत के 72 फ़ीसदी लोगों को सफ़ाई के उचित बन्दोबस्त हासिल नहीं हैं और इसके सीधे दोषी इस देश के हाकिम पूँजीपति हैं।

वैसे तो सफ़ाईकर्मियों के हालात हमेशा से ही बदतर रहे हैं, पर 1991 के बाद निजीकरण-उदारीकरण की नीतियाँ लागू होने के साथ हालात और भी बदतर हो गये हैं। सरकार ने पूँजीपतियों के मुनाफ़े की राह में हर तरह की बाधाओं को दूर करने के लिए तेज़ी से क़दम आगे बढ़ाये हैं। निजीकरण के आने के बाद साफ़-सफ़ाई के कामों की ज़िम्मेदारी सँभालने में भी सरकार ने टालमटोल रवैया अपनाया। निजी कम्पनियों को कम से कम कर्मियों से कम से कम सुविधाएँ देकर ज़्यादा काम लेना था और यही हुआ। आज ज़्यादातर सफ़ाईकर्मी ठेकाकरण के अधीन बहुत कम तनख़्वाहों पर 10-10, 12-12 घण्टे काम करते हैं। श्रम क़ानूनों के तहत न्यूनतम मज़दूरी, हाज़िरी, पहचान पत्र, ई.पी.एफ़., ई.एस.आई. आदि हक़ों से भी वे वंचित हैं।

सफ़ाईकर्मियों को ना तो हादसों से सुरक्षा के इन्तज़ाम ही हासिल हैं और ना ही बीमारियों से बचाव के इन्तज़ाम। हर दिन देश में गटरों में गैस चढ़ने या काम के दौरान और दुर्घटनाओं से सफ़ाईकर्मियों की मौत होती है। सफ़ाईकर्मियों की यूनियन के अनुसार पिछले दो दशकों में हज़ार से भी ज़्यादा कर्मियों की मौत इन हादसों में हो चुकी है। हमेशा कार्बन मोनोआक्साइड, हाइड्रोजन सल्फ़ाइड और मीथेन जैसी ज़हरीली गैसों के सीधे सम्पर्क में रहने के कारण कई तरह की साँस की और दिमाग़ी बीमारियाँ होती हैं। इसके अलावा दस्त, टाइफ़ाइड और हेपेटाइटिस-ए जैसी बीमारियाँ आमतौर पर होती हैं। ई. कौली नामक बैक्टीरिया पेट सम्बन्धी बहुत गम्भीर रोगों का जन्मदाता है और क्लोस्ट्रीडम टैटली नामक बैक्टीरिया खुले ज़ख़्मों के सीधे सम्पर्क में आने के साथ ही टिटनेस का कारण बनता है। ये सारे बैक्टीरिया गन्दे पानी में आमतौर पर पाये जाते हैं और चमड़ी के रोग तो इतने होते हैं कि गिनती करना मुश्किल है।

सफ़ाईकर्मियों की ज़िन्दगी हद से ज़्यादा बदतर हो चुकी है। उन्हें क़दम-क़दम पर बेइन्साफ़ी झेलनी पड़ती है। सरकारी ढाँचे के किसी भी हिस्से से वे भलाई की आस नहीं कर सकते। ना तो उनकी सुनवाई ठेकेदार-कम्पनियाँ करते हैं, ना सरकार, ना अफ़सरशाही। सफ़ाई कर्मियों की हालत एकजुट जुझारू आन्दोलन के साथ ही बदल सकती है। सफ़ाईकर्मियों के अलग-अलग संगठन तो बने हुए हैं पर वे वोटबटोरू पार्टियों और लीडरों के जाल में फँसे हुए हैं। समझौतापरस्त, दलाल, ग़द्दार लीडर सफ़ाईकर्मियों के किसी भी सच्चे आन्दोलन के आगे बढ़ने में दीवार बनकर खड़े हैं। सफ़ाईकर्मियों को इस दीवार को गिराने के लिए ज़ोरदार हमला करना पड़ेगा और एक सच्ची लीडरशिप आगे लानी पड़ेगी। इसके बिना उनका आन्दोलन आगे नहीं बढ़ सकता।

दूसरी बात जब तक पूँजीवादी व्यवस्था क़ायम है, तब तक सफ़ाईकर्मियों को काम के बदतर हालात, सामाजिक अपमान, ग़रीबी, बदहाली और अन्याय से छुटकारा नहीं मिल सकेगा। मुनाफ़े पर टिकी इस व्यवस्था की राजसत्ता से सफ़ाईकर्मियों को भलाई की उम्मीद नहीं करनी चाहिए। सफ़ाईकर्मियों को अपना सच्चा पेशागत संगठन तो बनाना ही पड़ेगा और अन्य पेशों के मज़दूरों-मेहनतकशों के साथ भी एका बनाना पड़ेगा। यही एक रास्ता है जिसके ज़रिये सारे मेहनतकशों का जीवन बेहतर बन सकता है।

- लखविन्दर

भगतसिंह के जन्मदिवस (28 सितम्बर) के अवसर पर

क्रान्ति क्या है?

क्रान्ति से हमारा अभिप्राय है–अन्याय पर आधारित मौजूदा समाज-व्यवस्था में आमूल परिवर्तन।

समाज का प्रमुख अंग होते हुए भी आज मज़दूरों को उनके प्राथमिक अधिकार से वंचित रखा जा रहा है और उनकी गाढ़ी कमाई का सारा धन शोषक पूँजीपति हड़प जाते हैं। दूसरों के अन्नदाता किसान आज अपने परिवार सहित दाने-दाने के लिए मुहताज हैं। दुनिया भर के बाजारों को कपड़ा मुहैया करने वाला बुनकर अपने तथा अपने बच्चों के तन ढंकने-भर को भी कपड़ा नहीं पा रहा है। सुन्दर महलों का निर्माण करने वाले राजगीर, लोहार तथा बढ़ई स्वयं गन्दे बाड़ों में रहकर ही अपनी जीवन-लीला समाप्त कर जाते हैं। इसके विपरीत समाज के जोंक शोषक पूँजीपति जरा-जरा-सी बातों के लिए लाखों का वारा-न्यारा कर देते हैं।

यह भयानक असमानता और जबर्दस्ती लादा गया भेदभाव दुनिया को एक बहुत बड़ी उथल-पुथल की ओर लिए जा रहा है। यह स्थिति अधिक दिनों तक कायम नहीं रह सकती। स्पष्ट है कि आज का धनिक समाज एक भयानक ज्वालामुखी के मुख पर बैठकर रंगरेलियाँ मना रहा है और शोषकों के मासूम बच्चे तथा करोड़ों शोषित लोग एक भयानक खड्ड की कगार पर चल रहे हैं।

आमूल परिवर्तन की आवश्यकता

सभ्यता का यह प्रासाद यदि समय रहते संभाला न गया तो शीघ्र ही चरमराकर बैठ जायेगा। देश को एक आमूल परिवर्तन की आवश्यकता है। और जो लोग इस बात को महसूस करते हैं उनका कर्तव्य है कि साम्यवादी सिद्धान्तों पर समाज का पुनर्निर्माण करें। जब तक यह नहीं किया जाता और मनुष्य द्वारा मनुष्य का तथा एक राष्ट्र द्वारा दूसरे राष्ट्र का शोषण, जिसे साम्राज्यवाद कहते हैं, समाप्त नहीं कर दिया जाता तब तक मानवता को उसके क्लेशों से छुटकारा मिलना असम्भव है, और तब तक युद्धों को समाप्त कर विश्व-शान्ति के युग का प्रादुर्भाव करने की सारी बातें महज ढोंग के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हैं। क्रान्ति से हमारा मतलब अन्ततोगत्वा एक ऐसी समाज-व्यवस्था की स्थापना से है जो इस प्रकार के संकटों से बरी होगी और जिसमें सर्वहारा वर्ग का आधिपत्य सर्वमान्य होगा। और जिसके फलस्वरूप स्थापित होने वाला विश्व-संघ पीड़ित मानवता को पूँजीवाद के बन्धनों से और साम्राज्यवादी युद्ध की तबाही से छुटकारा दिलाने में समर्थ हो सकेगा।

सामयिक चेतावनी

यह है हमारा आदर्श। और इसी आदर्श से प्रेरणा लेकर हमने एक सही तथा पुरजोर चेतावनी दी है। लेकिन अगर हमारी इस चेतावनी पर ध्यान नहीं दिया गया और वर्तमान शासन-व्यवस्था उठती हुई जनशक्ति के मार्ग में रोड़े अटकाने से बाज न आयी तो क्रान्ति के इस आदर्श की पूर्ति के लिए एक भयंकर युद्ध का छिड़ना अनिवार्य है। सभी बाधाओं को रौंदकर आगे बढ़ते हुए उस युद्ध के फलस्वरूप सर्वहारा वर्ग के अधिनायकतंत्र की स्थापना होगी। यह अधिनायकतन्त्र क्रान्ति के आदर्शों की पूर्ति के लिए मार्ग प्रशस्त करेगा। क्रान्ति मानवजाति का जन्मजात अधिकार है जिसका अपहरण नहीं किया जा सकता। स्वतन्त्रता प्रत्येक मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है। मज़दूर वर्ग ही समाज का वास्तविक पोषक है, जनता की सर्वोपरि सत्ता की स्थापना मज़दूर वर्ग का अन्तिम लक्ष्य है। इन आदर्शों के लिए और इस विश्वास के लिए हमें जो भी दण्ड दिया जायेगा, हम उसका सहर्ष स्वागत करेंगे। क्रान्ति की इस पूजा-वेदी पर हम अपना यौवन नैवेद्य के रूप में लाये हैं, क्योंकि ऐसे महान आदर्श के लिए बड़े से बड़ा त्याग भी कम है। हम सन्तुष्ट हैं और क्रान्ति के आगमन की उत्सुकतापूर्वक प्रतीक्षा कर रहे हैं।

इन्कलाब जिन्दाबाद!

('बम काण्ड पर सेशन कोर्ट में बयान' से)

तेल की बढ़ती कीमतों का बोझ फिर मेहनतकश जनता पर

पिछले आठ महीनों में पेट्रोल की कीमतों में आठ बार बढ़ोत्तरी हुई है। यह आर्थिक सुधारों के कठोर सरकारी फैसलों का नतीजा था। ऐसे हर फैसले आम लोगों की ज़िन्दगी को थोड़ा और तंगहाल बनाते हैं। वैसे भी आम लोग और उनकी ज़रूरतें पूँजी और मुनाफ़े की इस व्यवस्था के केन्द्र में कभी नहीं होते। उनकी उपयोगिता इस व्यवस्था के संचालकों के लिए महज़ वोट बैंक के रूप में होती है। इसी आसन्न चुनाव और वोट हथियाने के हथकण्डे के तौर पर डीज़ल और पेट्रोल के दामों में इज़ाफ़ा करने से इस बार बचने की कोशिश की गयी थी। इसके बावजूद यदि ऐसा सम्भव नहीं हो पाया, तो मतलब साफ है, नवउदारवादी नीतियों ने पलटकर सरकार को ही नियंत्रण में ले लिया है। चुनाव होते ही अभी इनकी कीमतें और रफ़्तार से बढ़ेंगी, यह तय है। डीज़ल की मूल्य वृद्धि सम्बन्धी फैसला तो सरकार पहले ही ले चुकी है। प्रति माह एक रुपये की दर से इसके दाम तब तक बढ़ते रहेंगे जब तक यह बाज़ार भाव के बराबर नहीं आ जाता, यानी सरकार इस पर सब्सिडी देने की अपनी ज़िम्मेदारी से जब तक पूरी तरह अपने को मुक्त नहीं कर लेती। तेल कम्पनियों की आर्थिक सेहत के लिए हमेशा चिन्तित रहनेवाले वित्तमंत्री महोदय आम जनता के बारे में बड़े निश्चिन्त रहते हैं, उनका मानना है कि मूल्य वृद्धि की 'छोटी छोटी खुराकें' जनता सहन कर ही लेगी।

मूल्यवृद्धि को सही ठहराने की कोशिश में सरकार यह दलील देती है कि अन्तरराष्ट्रीय कीमतों के हिसाब से पेट्रोल की कीमतों में परिवर्तन होता है, और यदि तेल कम्पनियों पर बाज़ार भाव से कम भाव पर बेचने का जोर डाला जाये तो उन्हें नुकसान का भारी बोझ उठाना पड़ता है। इसका असर राजकोषीय घाटे पर पड़ता है जिससे अर्थव्यवस्था डावाँडोल हो जाती है।

सच्चाई तो यह है कि लोगों को भरमाने के लिए सत्ताधारी हमेशा से ही झूठ का अम्बार खड़ा करते रहे हैं। तेल के अन्तरराष्ट्रीय मूल्यों से संचालित होने का अर्थ यह हुआ कि दुनिया के लगभग एक जैसी अर्थव्यवस्था वाले देशों पर इसका कमोबेश एक जैसा प्रभाव पड़ना चाहिए। परन्तु पूरी दुनिया के मुकाबले तेल की कीमतें सबसे अधिक हमारे यहाँ बढ़ी हुई होती हैं। जिस समय भारत में पेट्रोल का मूल्य 68 रु. था पाकिस्तान में वह 53 रु. प्रति लीटर था जब कि वहाँ भी तेल की उपलब्धता भारत की तरह तेल आयात पर टिकी है। एक छोटे से देश नेपाल में भी पेट्रोल भारत के मुकाबले सस्ता था। किसी किस्म की सब्सिडी न देनेवाले अमेरिका में भी इसकी कीमत 50 रु. प्रति लीटर के बराबर थी।

वर्ष 2009-10 में जब अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में पेट्रोल 23.17 रु. प्रति लीटर था तब घरेलू बाजार में हम 47.93 रुपये प्रति लीटर चुका रहे थे। डीज़ल के मामले में भी अन्तरराष्ट्रीय बाज़ार में 22.7 रु. के मुकाबले घरेलू बाज़ार में इसकी कीमत 38.1 रु. प्रति लीटर थी। उसी दौर में हम गैस की कीमत 310.35 रुपया प्रति सिलिण्डर चुका रहे थे जब कि अन्तरराष्ट्रीय बाज़ार में इसका दाम 117.14 रु. प्रति सिलिण्डर था। ज़ाहिर है अन्तरराष्ट्रीय दाम के पैमाने की दलील बिल्कुल खोखली और भ्रामक है। यूँ भी इस पैमाने को आधार बनाना ही गलत है। यहाँ कच्चा तेल आयात किया जाता है जिसका दाम बहुत ज़्यादा नहीं होता, फिर देश के शोधक कारखानों में उस कच्चे तेल का शोधन किया जाता है। यदि कच्चे तेल के आयात के दाम में इस घरेलू तेल शोधक लागत को भी जोड़ दिया जाय तो भी पेट्रोल और उसके उत्पादों की कीमतों में इतना इज़ाफ़ा नहीं होगा।

वास्तव में लूट और मुनाफे की हवस ने पट्रोल की कीमतों में आग लगा दी है।

पेट्रोल के बाज़ार भाव से कम दाम पर बिक्री से कम्पनियों को होने वाले नुकसान (जिसे अंडररिकवरी कहा जाता है) की सरकार भरपाई करती है। अर्थव्यवस्था की तबाही का हव्वा खड़ा करके वह अपने इस काम को न केवल उचित ठहराती है और बल्कि उसका पैसा भी जनता से ही करों के रूप में वसूलती है। जबकि हकीकत यह है कि तेल कम्पनियों का घाटा आँकड़ों की हेराफेरी ही है। अभी कुछ माह पूर्व तत्कालीन पेट्रोलियम मंत्री द्वारा लोकसभा में दिया गया बयान इस झूठ और फरेब को उजागर करता है। उस बयान के हवाले से सार्वजनिक तेल कम्पनियों द्वारा कर-भुगतान के बाद प्राप्त मुनाफे का विवरण मिलता है जो इस प्रकार है। 2010-11 में ओएनजीसी (तेल खोज व उत्पादन करनेवाली कम्पनी) का मुनाफा 18924 करोड़ रुपये, विपणन कम्पनी, इण्डियन ऑयल का 7445 करोड़ रुपये, भारत पेट्रोलियम का 1547 करोड़ रुपये और हिन्दुस्तान पेट्रोलियम का मुनाफा 1539 करोड़ रुपये था। इन तीन बड़ी सरकारी विपणन कम्पनियों ने अपने शेयरधारक भारत सरकार को 3287 करोड़ रुपये का डिविडेंड (कम्पनी द्वारा शेयरधारक को बाँटा जानेवाला मुनाफा) भी दिया है। उसी साल इन कम्पनियों ने जहाँ एक तरफ 78190 करोड़ रुपये की अंडररिकवरी का रोना रोया है वहीं दूसरी तरफ अपने उत्पादों के विज्ञापन व प्रचार में इन्होंने करोड़ों रुपये की रकम फूँक डाली है। पिछले पाँच सालों में इस मद में खर्च की गई रकम 1142 करोड़ रुपये है। इससे साफ ज़ाहिर है कि घाटा कहाँ और किसका हुआ है।

राजकोषीय घाटे की असलियत तो संसदीय समिति की रिपोर्ट से ही सामने आ जाती है। वह बताती है कि वर्ष 2010-11 में केन्द्र सरकार को पेट्रोलियम उत्पादों पर करों के ज़रिये 136497 करोड़ रुपये का राजस्व प्राप्त हुआ है और राज्य सरकारों को 88997 करोड़ रुपये का। कुल मिलाकर एक साल में 225494 रुपये का राजस्व। यदि कम्पनियों को सरकार द्वारा दी गयी कुल 43926 करोड़ रुपये की सब्सिडी को इसमें से घटा भी दिया जाये तो भी सरकार के हाथ में कुल 92571 करोड़ की भारी राशि शेष बची रह जाती है। ज़ाहिर है तेल की कीमतों में किसी सम्भावित कमी को राजकोषीय घाटे के बढ़ने की वजह बताना महज़ एक छलावा ही है। सच तो यह है कि पेट्रोलियम पदार्थों की कीमतें जितनी बढ़ती हैं पूँजीपतियों और उनका प्रबन्धन सम्भालने वाली सरकार दोनों को ही उसका लाभ मिलता है, घाटा तो सिर्फ आम जनता ही उठाती है। यहाँ यह जानना भी दिलचस्प होगा कि सरकार ने पिछले बजट सत्र में पूँजीपतियों से प्राप्त होनेवाले कुल 529432 करोड़ रुपये का राजस्व माफ कर दिया था। यह रकम उस समय राजकोषीय घाटे की कुल रकम 521980 करोड़ रुपये से करीब 8000 करोड़ रुपये अधिक थी। फिर भी सरकार जब-तब राजकोषीय घाटे का भूत अपने पिटारे में से निकालती रहती है।

अभी पिछले दिनों पेट्रोलियम और प्राकृतिक गैस मंत्री वीरप्पा मोइली ने तेल आयात घटाने के लिए रात में पेट्रोल पम्प बन्द रखने का हास्यास्पद सुझाव दिया था जिससे तेल की खपत को नियंत्रित करके राजकोषीय घाटे को कम किया जा सके। प्रचार और पोस्टर विज्ञापन के माध्यम से जागरूकता अभियान चलाने का सरकारी सुझाव भी सामने आया था। इसका हश्र पानी बचाओ मुहिम के हश्र से अलग होगा इसकी सम्भावना कम ही है। इन बातों के अतिरिक्त यहाँ सबसे अहम सवाल यह है कि जिन उदारवादी नीतियों ने सभी चीज़ों को खुले बाज़ार के हवाले कर दिया क्या सत्ताधारियों द्वारा अब उन्हीं उदारवादी नीतियों के तहत उन पर नियंत्रण कायम करना मुमकिन है।

दूसरे, तेल का आयात घटाना सरकार के बूते से बाहर है। वजह साफ है, वह स्वयं ही पेट्रोल की सबसे बड़ी उपभोक्ता है और उसने अबतक अपनी खपत घटाने का कोई इरादा ज़ाहिर नहीं किया है। केन्द्रीय और राज्य स्तर के मंत्री के विभागों, सचिवालयों और अन्य सरकारी कायालयों के कार्यालयी खर्च में (जिसमें कागज-कलम से लेकर बाथरूम में इस्तेमाल होनेवाला साबुन शामिल है) ईधन का खर्च जुड़ा होता है और ज़ाहिर है यह खर्च का बड़ा हिस्सा होता है। अगर सिर्फ दिल्ली में ही देखा जाये तो विगत वर्ष मंत्रालयों का यह खर्च 5200 करोड़ रुपये था। दिल्ली में ही केन्द्रीय मंत्री, 70 सचिव स्तर के अधिकारी, 131 उपसचिव, 525 संयुक्त सचिव के साथ-साथ 1200 निदेशक स्तर के अधिकारियों में भी आधे (यानी लगभग 600) से अधिक को स्टाफ कार की सुविधा मिली हुई है। जबकि कैबिनेट मंत्री को तीन स्टाफ कार उपलब्ध हैं। यदि इनमें से प्रत्येक 200 प्रति लीटर प्रति माह न्यूनतम के स्तर पर भी पेट्रोल का उपयोग करता है तो यहाँ भी पेट्रोल की मासिक खपत 2.56 लाख लीटर तक जा पहुँचती है। केवल केन्द्रीय मंत्रियों द्वारा पेट्रोल की कुल मासिक खपत 46200 लीटर है। और इस पर होनेवाला कुल मासिक खर्च 230 करोड़ रुपये से अधिक ही बैठता है। इतना ही नहीं मंत्रियों के भारी भरकम काफिले में 150 तक की संख्या में शामिल गाड़ियाँ राजकोषीय घाटा की चिन्ता किये बगैर सैकड़ों लीटर तेल फूँक डालती हैं। विराट नौकरशाही को हासिल स्टाफ कारें कार्यालयी कार्यों से ही नहीं दौड़ती यह साहब के बच्चों को स्कूल पहुँचाती हैं, मेमसाहब को खरीदारी के लिए बाजार ले जाती हैं। मनोरंजन के लिए साहब और उनके परिवार को पार्टियों और पिकनिक स्थलों की सैर कराती हैं। मंत्रियों-संत्रियों को यह सारी सुविधा मुफ्त में हासिल है। और उसकी कीमत आम लोगों की जेब से राजकोषीय घाटे के नाम पर ज़बर्दस्ती निकाल ली जाती है।

सच तो यह है कि पेट्रोल की खपत को तभी कम किया जा सकता है, जब सार्वजनिक परिवहन की एक ऐसी चुस्त-दुरुस्त प्रणाली विकसित की जाये कि लग्ज़री गाड़ियों, कारों, मोटरसाइकिलों और स्कूटरों के निजी उपयोग की ज़रूरत न रहे। स्कूलों-कालेजों, विश्वविद्यालयों, कार्यालयों, खरीदारी और मनोरंजन स्थलों तक पहुँचने के लिए सड़कों पर पर्याप्त संख्या में सुविधाजनक (आज की तरह खटारा बसें नहीं) बसें थोड़े-थोड़े अन्तरालों पर दौड़ती रहें। कम दूरी के लिए साइकिलों का इस्तेमाल हो। परन्तु बाज़ार और मुनाफे की इस व्यवस्था के रहते निजी उपभोग की प्रणाली को ख़त्म नहीं किया जा सकता। निजी कारों और गाड़ियों के इस्तेमाल पर रोक लगाना तो दूर रहा इनके निजी उपयोग को कम भी नहीं किया जा सकता। और न ही तेल की कीमतों की बढ़ोत्तरी पर लगाम लगायी जा सकती है। यह कोई अचानक पैदा होने वाला संकट नहीं बल्कि संकटग्रस्त पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली की ही देन है और इसके ख़ात्मे के साथ ही यह ख़त्म होगा।

– मीनाक्षी

कैसा है यह लोकतंत्र और यह संविधान किसकी सेवा करता है?

(पेज 11 से आगे)

के बाद से ही साल-दर-साल भारतीय राज्यसत्ता अपनी सेना को चुस्त-दुरुस्त और अत्याधुनिक हथियारों से लैस करती आयी है। हथियारों के आयात के मामले में भारत आज विश्व में अव्वल नम्बर पर है। जिस देश में दुनिया के सबसे अधिक बच्चे भूख और कुपोषण के शिकार हों और दुनिया की सबसे ज़्यादा महिलायें एनीमिया की शिकार हों, वह देश अगर दुनिया का सबसे बड़ा हथियारों का आयातक है तो इसी से इस राज्यसत्ता का बर्बर जनविरोधी चरित्र उजागर हो जाता है। जब सरकार को भूख, कुपोषण और ग़रीबी से निज़ात दिलाने की उसकी ज़िम्मेदारी के प्रति आगाह किया जाता है तो उसके नुमाइंदे और शासक वर्गों के टुकड़ों पर पलने वाले तमाम बुद्धिजीवी सब्सिडी का अर्थव्यवस्था पर पड़ने वाले बुरे असर के बारे में अख़बारों के पन्ने भर डालते हैं और टीवी स्टूडियों में लम्बी-लम्बी बहसें करते हैं, परन्तु इनमें से कोई भी यह सवाल नहीं उठाता कि भला ऐसा क्यों है कि इस 'शान्तिप्रिय' देश में हथियारों की प्राथमिकता भोजन और दवाओं से ज़्यादा है! भारत में श्रम की अनुत्पादकता पर हाय-तौबा मचाने वाले ये कलमघसीट सेना के रूप में इतनी विराट अनुत्पादक संस्था की मौजूदगी पर कभी कोई प्रश्नचिन्ह नहीं लगाते। सच्चाई तो यह है कि भारत का शासक वर्ग अपनी शान्तिप्रियता का चोंगा कब का उतार कर फेंक चुका है। आज भारतीय सेना दुनिया की साम्राज्यवादी सेनाओं के साथ कंधे से कंधा मिला कर युद्धाभ्यास करती है और यहाँ का शासक वर्ग खुद के साम्राज्य के बारे में ख़्वाब देखता है, भले ही यहाँ पर भूख, कुपोषण और बीमारी से दम तोड़ने वालों की संख्या में लगातार वृद्धि होती जा रही है।

(अगले अंक में जारी)

क्यों ज़रूरी है चुनावी नारों की आड़ में छुपे सच का भण्डाफोड़?

"यदि मतदान से कुछ बदला जा सकता, तो वे अबतक इसपर रोक लगा चुके होते!" – मार्क ट्वेन (प्रसिद्ध अमेरिकी लेखक)

वर्तमान सरकार महँगाई और बेरोज़गारी को नियंत्रित करने में असमर्थ है, अर्थव्यवस्था लगातार नीचे जा रही है, भ्रष्टाचार के नये-नये प्रेत खुलेआम लोगों के सामने आ रहे हैं, और भ्रष्टाचार करने वाले बेशर्मों की तरह खुले घूम रहे हैं। कुछ लोग इस अव्यवस्था के समाधान के लिए नरेन्द्र मोदी को चुनने का समर्थन कर रहे हैं। कुछ लोग मोदी की तुलना अन्धों में काने को राजा बनाने से भी कर रहे हैं। मुख्य रूप से समाज के मध्य वर्ग में यह सोच आज आम धारणा बन चुकी है। लेकिन कांग्रेस या भाजपा, दोनों ही पार्टियों के शासन का इतिहास देखें तो भाजपा में भी उतना ही भ्रष्टाचार है, और वह भी उन्हीं नीतियों को आगे बढ़ाती है जिन्हें कांग्रेस। वास्तव में दोनो ही मुनाफे के लिये अन्धे हैं, जो पूँजीवाद का मूल मंत्र है, इसलिए इनमें से किसी को काना भी नहीं कहा जा सकता। इतना मान लेने वाले कुछ लोगों का अगला सवाल यह होता है कि फिर अभी क्या करें, किसी को तो चुनना ही पड़ेगा? इस सवाल का जवाब देने से पहले हमें थोड़ा विस्तार से वर्तमान व्यवस्था पर नज़र डालनी होगी।

आर्थिक व्यवस्था और आर्थिक सम्बन्धों को जैसा का तैसा छोड़ दिया जाये और फिर राजनीति पर एक नज़र डाली जाये तो सभी पूँजीवादी पार्टियों के चरित्र को स्पष्ट किया जा सकता है। पूँजीवादी मुनाफा-केन्द्रित व्यवस्था के संचालन के लिए किसी भी राजनीतिक पार्टी की सरकार हो उसके शासन में अर्थव्यवस्था और उसके साथ मज़दूर तबाह जरूर होते हैं। मज़दूरों के सामने रोज़गार के सारे विकल्प धीरे-धीरे कम होते जाते हैं, महँगाई-बेरोज़गारी बढ़ती है और इन सभी कारणों से पूरे समाज में असन्तोष भी बढ़ता ही है। लोगों के बीच बढ़ रहे असन्तोष का विस्फोट न हो जाये, इसके लिये पूँजीवादी शासक वर्ग कभी मध्यावधि चुनाव का, कभी आपातकाल तो कभी साम्प्रदायिक दंगों का सहारा लेता रहा है। भारत के इतिहास में इस तरह की कई घटनाओं के उदाहरण मौजूद हैं। इसके साथ ही कुछ राजनीतिक पार्टियों या सभ्य-समाज के प्रतिनिधियों के नेतृत्व में सुधारात्मक आन्दोलन भी लगातार चलते रहते हैं, जो व्यवस्था के बदलाव के लिए उसपर लगातार बढ़ रहे मेहनतकश जनता के असन्तोष के दबाव को कम करने की भूमिका निभाते हैं।

समाज की यह सभी गतिविधियाँ किसी पराभौतिक शक्ति के प्रभाव में नहीं होती, बल्कि इस पूरी व्यवस्था को संचालित करने वाले कुछ वैज्ञानिक नियम हैं जिन्हें समझा जा सकता है, और इनकी समझ के आधार पर इस व्यवस्था को बदला भी जा सकता है जिससे हर दिन जारी मज़दूरों-किसानो की दुर्दशा और कुछ सालों में होने वाली बड़ी आर्थिक तबाही में व्यापक मज़दूर वर्ग की बर्बादी को जड़ से समाप्त किया जा सके। चूँकि मज़दूर यह नियम नहीं समझते, न ही कभी उसे इन्हें समझने का मौका दिया जाता है। ऐसी स्थिति में पूँजीवादी व्यवस्था की अराजकता के भुक्तभोगी समाज के आम मेहनतकश लोगों के बीच यह आम धारणा विकसित होती है कि वर्तमान सरकार में बैठे लोगों को हटाकर दूसरे लोगों को उनकी जगह पर बिठा देने से कुछ "बदलाव" हो सकता है। जबकि पूँजीवादी सम्बन्धों के हितों की रक्षा के लिए मौजूद पूरी राज्यसत्ता पर कोई सवाल नहीं उठने दिया जाता। इसलिए यह लाज़िमी है कि समाज में किसी संगठित क्रान्तिकारी मज़दूर आन्दोलन की गैर-मौजूदगी में मेहनतकश जनता आर्थिक व्यवस्था पर स्वत:स्फूर्त ढंग से कोई सवाल नहीं उठा सकती (आज कोई क्रान्तिकारी मज़दूर आन्दोलन क्यों मौजूद नहीं है, यह अपने आप में अलग से विश्लेषण का विषय है...)।

साम्राज्यवादी डाकुओं की बढ़ती लूट,
देशी सरमायेदारों की फूलती थैलियाँ,
मेहनतकशों की बढ़ती तबाही,
बेरोज़गारी, आसमान छूती महँगाई,
छँटनी-तालाबन्दी, तबाही-बर्बादी,
काले कानून, लाठी-गोली का प्रजातंत्र,
बिकता न्याय,
अराजकता, लूटपाट, गुण्डागर्दी,
दलाली, कमीशनखोरी, भ्रष्टाचार,
मण्डल-कमण्डल, दंगे-फसाद,
भ्रष्ट सरकार, झूठी संसद,
नपुंसक विरोध
इनसे निजात पाने की राह क्या है?
इलेक्शन या इंक़लाब?

पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था के दायरे में रहते हुए कुछ ऐसे लोग भी समाज में पैदा हो जाते हैं जो जनता की इस आम धारणा का राजनीतिक फायदा उठाकर स्वयं सत्ता में आने के सपने देखते हैं। ये लोग या तो जानबूझ कर फायदा उठाना चाहते हैं, या उनकी स्वयं का दृष्टिकोण इतना संकीर्ण होता है कि वे कुछ सुधारों को ही समाज का अन्तिम लक्ष्य समझ बैठे होते हैं।

यही कारण है कि पूरी व्यवस्था पर नियन्त्रण रखने वाले पूँजीपति वर्ग के प्रतिनिधि और सरकार में बैठे उनके विचारक प्रचार के माध्यम से लोगों के बीच इस आम धारणा को और मज़बूती प्रदान करते हैं और उनके सामने किसी व्यक्ति को मसीहा के रूप में विराजमान कर देते है। जो लोग किसी क्रान्तिकारी विकल्प की ओर जा सकते थे, या वर्तमान आर्थिक व्यवस्था पर कोई सवाल खड़ा कर सकते थे वे समाज में फैले इस भ्रामक जाल में फँसकर किसी ठोस बदलाव की माँगों से भटका दिये जाते हैं।

पक्ष, विपक्ष या कोई और तीसरे पक्ष का पूँजीवादी जनतन्त्र में यही काम है। जब जनता एक पार्टी से परेशान हो जाये तो दूसरे को, और जब दूसरे से परेशान हो तो फिर पहले को या किसी तीसरे मदारी को उनके सामने विकल्प की तरह लाकर खड़ा कर दिया जाता है। लेकिन अन्त में 'ढाक के तीन पात' वाली कहावत चरितार्थ होती है, और पूँजीवादी आर्थिक सम्बन्धों के अन्तर्गत मज़दूरों की बर्बादी और शोषण के दम पर मुनाफ़ाख़ोरी बदस्तूर जारी रहती है। फिर आर्थिक संकट आते हैं, फिर एक बार लोग बेरोज़गार होकर सड़कों पर आ जाते हैं, फिर एक बार नौजवान-किसान आत्महत्या करने लगते हैं, और फिर लोगों को किसी दूसरे विकल्प की तलाश के लिए धकेल दिया जाता है।

यदि संगठित क्रान्तिकारी मज़दूर आन्दोलन मौजूद न हो तो एक बार फिर कोई और व्यक्ति या कोई और पार्टी विकल्प के रूप में लोगों के सामने लाकर खड़ी कर दी जाती है, और उसे कभी धर्म का डण्डा थमा दिया जाता है, तो कभी जाति की लाठी, और कभी खून की शुद्धता जैसे नारों के साथ प्राचीन शुद्धता का झण्डा। यह हम पिछले दो साल से हमारे देश में चल रही राजनीति और आन्दोलनों में काफी स्पष्ट रूप से देख सकते हैं। पहले अन्ना ने आन्दोलन किया तो बड़ी संख्या में लोग उनके पीछे हो लिए, फिर रामदेव ने केसरिया धोती पहनकर अपने चेलों-चपाटों के साथ आन्दोलन किया और लोग उनके साथ हो लिए, फिर केजरीवाल ने एक पार्टी बनाकर लोगों के सामने कुछ ऐसी बातें कीं जो सुनने में ऊपर से उग्र (सिर्फ) राजनीति बदलाव करने वाली लगती हैं, और लोग उनका समर्थन करने लगे। और आज-कल मोदी को हिन्दुत्व के प्रतीक के रूप में एक विकल्प के रूप में मध्य-वर्ग के समने खड़ा किया जा रहा है। मुझे लगता है कि बात स्पष्ट करने के लिए इतना काफी है।

लेकिन इन सभी आन्दोलनों और विकल्पों की बात करने वाले पूँजीवादी प्रतिनिधियों में से कोई भी आर्थिक व्यवस्था में बदलाव की बात नहीं करता, कोई यह नहीं कहता कि देशी-विदेशी कम्पनियों के मुनाफ़े की हवस को पूरा करने के लिए जिस तरह पूरा आर्थिक-राजनीतिक तन्त्र काम कर रहा है उस पर नियंत्रण लगाने की आवश्यकता है। किसी ने भी यह नहीं कहा कि मेहनत-मज़दूरी करने वाली देश की व्यापक जनता की बर्बादी का कारण पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था है, कि लोग बेरोज़गार किसी और कारण से नहीं बल्कि इसलिए हैं कि वर्तमान पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में उत्पादन के सभी साधन पूँजीपति वर्ग के नियंत्रण में हैं, और मेहनतकश चाहकर भी काम नहीं कर सकते। क्योंकि उन्हें काम तभी मिलता है जब कोई पूँजीपति अपने मुनाफ़े के लिये कोई उद्योग शुरू करता है जहाँ मज़दूर अपने श्रम को बेचकर उसकी तिजोरियाँ भरने के लिये काम करते हैं। जनता के इन मसीहाओं में से कोई यह भी नहीं कहता कि पूँजीवाद में मज़दूर अपनी आजीविका के लिये उजरती गुलामी के लिए मजबूर होते हैं, और पूँजी के रूप में सारे संसाधन जो जनता की मेहनत से पैदा किये गये हैं वे कुछ लोगों के पास संकेन्द्रित हो चुके हैं। आज पूरी दुनिया की पूँजीवादी अर्थव्यवस्थाओं के साथ भारत की अर्थव्यवस्था मन्दी से जूझ रही है, ऐसे में सत्ता पर नियन्त्रण रखने वाली पूँजीवादी ताक़तें किसी ऐसे विकल्प की तलाश में हैं जो खुले रूप में मुनाफ़ा निचोड़ने के लिए जनता का खुला बर्बर दमन करने में समर्थ हो और उसे उनके मूल मुद्दों से भटका कर रख सके।

जबतक मज़दूरों के नियंत्रण में जनता के हितों और आवश्तकताओं के अनुरूप आर्थिक सम्बन्धों में आमूलगामी बदलाव नहीं होंगे, तबतक लोभ-लालच-अपराध और पूँजीवादी समाज में हर दिन पैदा होने वाली अनेक विसंगतियों को समाप्त नहीं किया जा सकता। यदि वास्तव में कोई सही दिशा में कुछ करना चाहता है तो उसे एक क्रान्तिकारी विकल्प के निर्माण के लिए कोशिश करनी होगी और समाज को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से समझना होगा। नहीं तो बन्दर की तरह पेड़ की एक डाल से दूसरी डाल पर उछलकूद कर पसीना बहाने को ही श्रम मान लेना महामूर्खता है, जिससे कोई परिणाम नहीं निकल सकता।

आज हमें सभी मेहनतकश लोगों के सामने सोचने का एक प्रस्ताव रखना चाहिए और ऐसी हर कठमुल्लावादी विचारधारा, मान्यता, दर्शन, पाखण्ड का प्रचार करने वाले पण्डों-पुजारियों तथा मुल्ला-मौलवियों का विरोध करना चाहिए जो लोगों को आत्मकेन्द्रित होकर जीने, उन्हें स्वार्थी बनाने, घोंघे की तरह अपने खोल में घुस जाने की वकालत करते हैं। वास्तव में सभी लोग चौबीसों घण्टे अपने जीवन के हर क्षण अपनी आवश्यकताओं के लिए वैचारिक तथा भौतिक रूप से (अतीत, वर्तमान तथा भविष्य) के करोड़ों लोगों द्वारा पैदा की जाने वाली वस्तुओं पर निर्भर हैं। अपनी मुक्ति के रास्ते भी हमें अकेले में नहीं मिलेंगे, बल्कि अपने जैसे करोड़ों लोगों के साथ मिलकर संघर्ष करने से ही हमें वास्तविक मुक्ति और न्याय हासिल होगा।

– राजकुमार

संयुक्त राज्य अमेरिका के तथाकथित ख़ुशहाल समाज की हक़ीक़त पर एक नज़र

(पेज 7 से आगे)

सकता, जब तक कि अमेरिकी साम्राज्य को मिट्टी में नहीं मिला दिया जाता। एशिया, अफ़्रीका और लातिनी अमेरिका के देशों के मुक़ाबले अमेरिका में जो ख़ुशहाली (या कम ग़रीबी) नज़र आती है, उसका कारण वहाँ की व्यवस्था का अच्छा होना नहीं है, बल्कि वित्तीय पूँजी और फ़ौजी ताक़त के दम पर दूसरे देशों के मेहनतकश लोगों और संसाधनों की भयंकर साम्राज्यवादी लूट है। तीसरी दुनिया के पूँजीवादी देश विश्व पूँजीवादी व्यवस्था यानी साम्राज्यवाद की कमज़ोर कड़ियाँ हैं, जिनके टूटने के बाद ही अमेरिका जैसे साम्राज्यवादी मुल्क़ों में इन्क़लाब हो सकता है यानी पूँजीवादी व्यवस्था को पलटा जा सकता है।

यह है अमेरिका की हालत! इस संक्षिप्त लेख में दिये गये तथ्य तो अमेरिकी समाज की सिर्फ़ एक झलक है। पर यह झलक ही अमेरिका की तथाकथित ख़ुशहाल हालात और तथाकथित बढ़िया व्यवस्था के बारे में भ्रम दूर करने के लिए काफ़ी है।

– लखविन्दर

ग़रीबी-बदहाली के गड्ढे में गिरते जा रहे अमेरिका के करोड़ों मेहनतकश लोग

संयुक्त राज्य अमेरिका के तथाकथित ख़ुशहाल समाज की हक़ीक़त पर एक नज़र

हमारे देश में एक आम धारणा है कि अमेरिका में एक बढ़िया व्यवस्था है, जिसकी वजह से वहाँ बहुत बढ़िया हालात हैं। भारत के लोगों में आमतौर पर अमेरिकी समाज की तस्वीर एक अति ख़ुशहाल समाज की है। एक ऐसा समाज जहाँ ना ग़रीबी है, ना बेरोज़गारी। जहाँ ना बेबसी है, ना लाचारी। आमतौर पर भारतीय लोगों को लगता है कि अमेरिकी समाज इतना बेहतर समाज है, जहाँ हर व्यक्ति अच्छी और स्वाभिमान भरी ज़िन्दगी जीता है। पर असलियत इससे कोसों दूर है। आइये ज़रा संसार के "स्वर्ग" में "नर्क" पर नज़र डालते हैं।

सबसे पहले सरकार द्वारा तय ग़रीबी रेखा से नीचे रहने वाले लोगों की संख्या पर नज़र डालना ठीक होगा। ग़रीबी रेखा तय करते समय अमेरिकी सरकार यह मानकर चलती है कि एक अमेरिकी अपनी कुल आमदनी का तीसरा हिस्सा भोजन पर खर्च करता है। इसलिए कम से कम ज़रूरी भोजन (सरकार की नज़रों में ज़रूरत) पर जितना ख़र्च आता है, अगर उससे तीन गुना अधिक नहीं कमा सकता तो वह ग़रीबी रेखा से नीचे के स्तर पर है। इस सरकारी पैमाने के मुताबिक़ लगभग 15 फ़ीसदी अमेरिकी आबादी यानी 4.62 करोड़ लोग ग़रीबी रेखा से नीचे जी रहे हैं। ये वे लोग हैं जो ग़रीबी, बेरोज़गारी, ख़ुराक़ की कमी झेल रहे हैं और स्वास्थ्य सुविधाओं से वंचित हैं। अति ग़रीब लोग यानी ग़रीबी रेखा के लिए तय कम से कम आमदनी की भी आधी या उससे भी कम आमदनी वाले ग़रीब कुल अमेरिकी आबादी के 6.7 फ़ीसदी हैं। भारत की ही तरह अमेरिका में भी सरकार द्वारा तय ग़रीबी रेखा का पैमाना सही नहीं है। एक तो लोगों की भोजन की कम से कम ज़रूरतों को भी घटाकर देखा जाता है; दूसरा यह मानकर चला जाता है कि लोगों की कुल आमदनी का तीसरा हिस्सा भोजन की ज़रूरत पूरी करने के लिए ख़र्च होता है। जबकि यह हिस्सा इससे काफ़ी कम होता है। लोगों को अपने आवास, कपड़े, शिक्षा, स्वास्थ्य, मनोरंजन और अन्य बुनियादी ज़रूरतों पर 80-90 फ़ीसदी ख़र्च करना पड़ता है। जो व्यक्ति इन सारी ज़रूरतों को नहीं पूरा कर सकता, उसको ग़रीब माना जाना चाहिए। जैसाकि हम देख चुके हैं कि इस ग़लत सरकारी पैमाने के मुताबिक़ भी अमेरिका की 15 फ़ीसदी आबादी ग़रीबी रेखा से नीचे है। एक आँकड़े के अनुसार सामाजिक सुरक्षा से वंचित ग़रीब लोगों की गिनती इस देश में लगभग 6.76 करोड़ है यानी लगभग 22 फ़ीसदी अमेरिकी। अगर ग़रीबी रेखा के स्तर को दुगुना (4 लोगों के परिवार के लिए 46,042 डॉलर प्रति वर्ष) कर दिया जाये (जो पूरी तरह जायज़ है) तो 10.6 करोड़ अमेरिकी यानी हर तीन में एक से भी ज़्यादा अमेरिकी ग़रीब माना जायेगा। जुलाई के आख़िरी हफ़्ते में 'एसोसिएट प्रेस' द्वारा प्रकाशित आँकड़े के मुताबिक़ अमेरिका में 80 फ़ीसदी लोग साठ साल की उम्र तक ज़िन्दगी में कम से कम एक साल या इससे भी ज़्यादा समय के लिए ग़रीबी या लगभग ग़रीबी की हालत और बेरोज़गारी झेलते हैं। एक आँकड़े के अनुसार साढ़े चार करोड़ अमेरिकी "भोजन बैंकों" पर निर्भर हैं यानी वे ख़ुद भोजन की ज़रूरत पूरी करने में असमर्थ हैं। अमेरिका के 28 फ़ीसदी मज़दूरों की मज़दूरी ग़रीबी रेखा के स्तर से नीचे है।

काले (अफ़्रीकी-अमेरिकी) और ग़ैर-अमेरिकी मूल के लोगों की हालत ज़्यादा बुरी है। काले लोगों की 27.4 फ़ीसदी, स्पेनी मूल के लोगों की 26.4 फ़ीसदी और एशियाई मूल के लोगों की 12.2 फ़ीसदी आबादी ग़रीबी रेखा से नीचे है। इन आँकड़ों से पता लगता है कि अमेरिकी मूल के गोरों के मुक़ाबले अन्य नस्लों और मूल के लोग ज़्यादा ग़रीब हैं।

औरतों की हालत अमेरिका में भी पुरुषों के मुक़ाबले ज़्यादा बुरी है। कुल ग़रीबों में औरतों की संख्या पुरुषों के मुक़ाबले 34 फ़ीसदी अधिक है। 2010 में यह 29 फ़ीसदी था। मौजूदा समय में अमेरिका में पुरुष औरतों के मुक़ाबले औसतन 68 फ़ीसदी ज़्यादा कमाते हैं।

अमेरिका में बच्चों की ग़रीबी के बारे में ज़्यादा आँकड़े जारी किये जाते हैं। सरकारी पैमाने के मुताबिक़ अमेरिका के 18 साल से कम उम्र वाले 22 फ़ीसदी बच्चे यानी 1.67 करोड़ बच्चे ग़रीबी रेखा से नीचे हैं। बच्चों के मामले में काली आबादी की हालत और भी बदतर है, क्योंकि इस आबादी में 39 फ़ीसदी बच्चे ग़रीबी रेखा से नीचे हैं। इसी तरह लातिनी बच्चों की हालत भी काफ़ी बुरी है। लातिनी बच्चों का 34 फ़ीसदी ग़रीबी रेखा से नीचे माना गया है। ग़रीबी की हालत में रहने वाले बच्चों को भोजन, स्वास्थ्य, शिक्षा, मनोरंजन आदि की न्यूनतम ज़रूरतों की पूर्ति या तो होती ही नहीं या बेहतर तरीक़े से नहीं होती। अमेरिका के पब्लिक स्कूलों में लगभग एक लाख पैंसठ हज़ार बेघर बच्चे हैं। विधवा या पति से अलग हो चुकी औरतों के बच्चों की हालत भी बहुत दयनीय है। 2010 के एक सरकारी आँकड़े के अनुसार अमेरिका में ऐसे बच्चों की संख्या 1.08 करोड़ है यानी कुल बच्चों का 24 फ़ीसदी। इन बच्चों में 42.2 फ़ीसदी बच्चे ग़रीबी रेखा से नीचे हैं। स्पेनी मूल के परिवारों के 50.9 फ़ीसदी बच्चे ग़रीबी झेल रहे हैं। काले लोगों के लिए यह 48.8, एशियाई मूल के लोगों के लिए 32.1 और ग़ैर-स्पेनी लोगों के लिए 32.1 फ़ीसदी है।

कोलम्बिया, अरीजोना, न्यू मैक्सिको और फ़्लोरिडा राज्यों में सबसे ज़्यादा ग़रीबी है। पिछले एक दशक के दौरान मध्य पश्चिम के कुछ शहरों जैसे डेट्राएट, टोलेडो और ओहायो में बेरोज़गारी बढ़ने और नौकरियाँ कम हो जाने के कारण ग़रीबी की दर दुगुनी हो गयी है। एक अध्ययन के अनुसार अमेरिका के दक्षिणी हिस्से में अलाप्स, टेक्सास, बैटन रूस, लुसियाना जैसे महानगरों में ग़रीबी एक तिहाई से भी ज़्यादा बढ़ी है।

ऊपर हमने लोगों की ज़रूरतों की पूर्ति के अनुसार अमेरिका में फैली ग़रीबी पर नज़र डाली है। पर ग़रीबी निरपेक्ष ही नहीं होती, बल्कि सापेक्षिक भी होती है। आइये अमेरिका में आर्थिक ग़ैर-बराबरी पर नज़र डालें।

अमेरिका की कुल धन-दौलत का 35.4 फ़ीसदी हिस्सा सबसे अमीर ऊपर की सिर्फ़ 1 फ़ीसदी आबादी के पास है। अगली 19 फ़ीसदी अमीर आबादी के पास कुल दौलत का 53.5 फ़ीसदी हिस्सा इकट्ठा हो चुका है। इसका मतलब है कि ऊपर की 20 फ़ीसदी आबादी के पास अमेरिका की कुल दौलत का 88.9 फ़ीसदी हिस्सा है। दूसरी तरफ़ नीचे की 80 फ़ीसदी आबादी के पास सिर्फ़ 11.1 फ़ीसदी बचता है। सन् 2007 की आर्थिक महामन्दी के बाद कुल दौलत में नीचे की 80 फ़ीसदी आबादी के हिस्से में बड़ी गिरावट आयी और यह 15 फ़ीसदी से घटकर 11.1 फ़ीसदी तक आ गया है। यानी आर्थिक संकट का सारा बोझ मेहनतकशों पर लाद दिया गया। 1983 से लेकर 2010 तक के आँकड़ों पर नज़र डालने से पता चलता है कि 1983 में 80 फ़ीसदी अमेरिकियों के पास अमेरिका की कुल दौलत का 18.7 फ़ीसदी हिस्सा था, जो लगातार कम होता हुआ मौजूदा स्तर पर आ गया है। देखिये सारणी।

संयुक्त राज्य अमेरिका में कुल दौलत का बँटवारा

वर्ष	ऊपरी 1% आबादी	अगली 19% आबादी	नीचे के 80% लोग
1983	33.8%	47.5%	18.7%
1989	37.4%	46.2%	16.5%
1992	37.2%	46.6%	16.2%
1995	38.5%	45.4%	16.1%
1998	38.1%	45.3%	16.6%
2001	33.4%	51.0%	15.6%
2004	34.3%	50.3%	15.3%
2007	34.6%	50.5%	15.0%
2010	35.4%	53.5%	11.1%

आइये ज़रा अब आमदनी के आँकड़ों पर नज़र डालें। इसी साल हुए एक अध्ययन में सामने आया है कि अमेरिका की सालाना कुल आमदनी का 20 फ़ीसदी हिस्सा तो 1 फ़ीसदी आबादी की जेब में ही चला जाता है। सन् 1976 में यह 9 फ़ीसदी था। आमदनी में यह अन्तर भी लगातार बढ़ता जा रहा है। सन् 1992 से लेकर 2007 तक ऊपर के सबसे ज़्यादा कमाई करने वाले 400 लोगों की आमदनी में 392 फ़ीसदी बढ़ोत्तरी हुई। यह भी ग़ौरतलब है कि इस अरसे के दौरान इन 400 लोगों के टैक्स 37 फ़ीसदी कम हो गये हैं। आमदनी में ग़ैर-बराबरी किस तरह लगातार बढ़ती गयी है, इसका अन्दाज़ा इस आँकड़े से भी लगाया जा सकता है कि 1979 से लेकर 2007 तक ऊपर के 1 फ़ीसदी परिवारों की आमदनी में 275 फ़ीसदी और अगले 19 फ़ीसदी परिवारों की आमदनी में 65 फ़ीसदी बढ़ोत्तरी हुई है। इसके बाद के 60 फ़ीसदी परिवारों की आमदनी में सिर्फ़ 40 फ़ीसदी और निचले 20 फ़ीसदी परिवारों की आमदनी में तो सिर्फ़ 18 फ़ीसदी ही बढ़ोत्तरी हुई। इसका अर्थ है कि इस अरसे के दौरान उत्पादक शक्तियों का जो भारी विकास हुआ, उसका सारा फ़ायदा कुछ मुट्ठीभर अमीरों को ही मिला। बढ़ती महँगाई के कारण मेहनतकशों को थोड़ीसी आमदनी बढ़ने का कोई फ़ायदा नहीं हुआ बल्कि उनकी असली आमदनी (क्रयशक्ति) घटी है।

2007 से 2009 के अरसे में आयी महामन्दी के दौरान देश की कुल आमदनी में सबसे बड़ा हिस्सा लेने वाली 1 फ़ीसदी आबादी की कमाई में 36.3 फ़ीसदी की गिरावट आयी, जबकि 99 फ़ीसदी की कमाई में 11.6 फ़ीसदी की गिरावट आयी थी। पर 2009-10 के दौरान जहाँ इस 1 फ़ीसदी आबाबी की आमदनी में 11.6 फ़ीसदी की बढ़ोत्तरी हुई, वहीं बाक़ी 99 फ़ीसदी आबादी की आमदनी में सिर्फ़ 0.2 फ़ीसदी बढ़ोत्तरी हुई यानी लगभग पहले जितनी ही रही।

1970 के दशक से अमेरिकी अर्थव्यवस्था लगातार मन्दी के दौर से गुज़र रही है। बजट घाटे और व्यापार घाटे से इसका पीछा नहीं छूट रहा। 1930 की महामन्दी के बाद सबसे बड़े संकट का 2008 में सामना करने के बाद अब फिर अमेरिका इस समय क़र्ज़ संकट से जूझ रहा है। अमेरिका का आर्थिक संकट विश्व पूँजीवादी व्यवस्था का अतिउत्पादन का संकट है। अतिउत्पादन का अर्थ यह नहीं है कि लोगों की ज़रूरतों से ज़्यादा उत्पादन हो गया है। इसका अर्थ लोगों की ख़रीदने की शक्ति के मुक़ाबले पैदावार का ज़्यादा होना है। पर पूँजीपतियों के मुनाफ़े की हवस से पैदा हुए इस संकट का ख़ामियाज़ा भी मेहनतकशों को ही भुगतना पड़ता है। यही कुछ अमेरिका में भी हो रहा है। अमेरिकी सरकार आर्थिक संकट से निकलने के लिए हाथ-पैर मारते हुए संकट का सारा बोझ आम लोगों पर ही लादने में लगी हुई है। सरकार की तरफ़ से लोगों पर किया जाने वाला ख़र्च लगातार घटाया जा रहा है और कर बढ़ाये जा रहे हैं; करोड़ों अमेरिकियों को आर्थिक मन्दी के कारण नौकरियों से भी हाथ धोना पड़ रहा है। मज़दूरों को तनख़्वाहों में कटौतियों का सामना करना पड़ रहा है। इस तरह आर्थिक मन्दी ने लोगों की हालत और भी पतली कर दी है।

पर क्या इस लूट-खसोट के ख़िलाफ़ अमेरिकी मेहनतकशों के बीच कोई आवाज़ नहीं उठी? क्या वे सब कुछ चुपचाप सह रहे हैं? नहीं, यह कैसे हो सकता है? जहाँ लूट-खसोट, ग़ैर-बराबरी और अन्याय है, वहाँ विरोध भी होगा। अमेरिकी मेहनतकश लोगों की तरफ़ से भी ग़रीबी, लगातार बढ़ रही आर्थिक ग़ैर-बराबरी, सरकार की मज़दूर विरोधी और पूँजीवादी नीतियों के ख़िलाफ़ विरोध हो रहा है। सन् 2011 और 2012 में चला "वालस्ट्रीट क़ब्ज़ा करो आन्दोलन" इसका ताज़ा उदाहरण है जिसमें लाखों लोग शामिल हुए थे। पर अमेरिका की पूँजीवादी व्यवस्था के ख़िलाफ़ लड़ने वाली क्रान्तिकारी ताक़तें और जनवादी आन्दोलन कमजोर हालात में हैं। साथ ही यह भी स्पष्ट कर देना ज़रूरी है कि अमेरिकी पूँजीवादी व्यवस्था का ख़ात्मा तब तक नहीं हो

पेरिस कम्यून : पहले मज़दूर राज की सचित्र कथा (दसवीं किस्त)

आज भारत ही नहीं, पूरी दुनिया के मज़दूर पूँजी की लुटेरी ताक़त के तेज़ होते हमलों का सामना कर रहे हैं, और मज़दूर आन्दोलन बिखराव, ठहराव और हताशा का शिकार है। ऐसे में इतिहास के पन्ने पलटकर मज़दूर वर्ग के गौरवशाली संघर्षों से सीखने और उनसे प्रेरणा लेने की अहमियत बहुत बढ़ जाती है। आज से 141 वर्ष पहले, 18 मार्च 1871 को फ्रांस की राजधानी पेरिस में पहली बार मज़दूरों ने अपनी हुकूमत क़ायम की। इसे पेरिस कम्यून कहा गया। उन्होंने शोषकों की फैलायी इस सोच को ध्वस्त कर दिया कि मज़दूर राज-काज नहीं चला सकते। पेरिस के जाँबाज़ मज़दूरों ने न सिर्फ़ पूँजीवादी हुकूमत की चलती चक्की को उलटकर तोड़ डाला, बल्कि 72 दिनों के शासन के दौरान आने वाले दिनों का एक छोटा-सा मॉडल भी दुनिया के सामने पेश कर दिया कि समाजवादी समाज में भेदभाव, ग़ैर-बराबरी और शोषण को किस तरह ख़त्म किया जायेगा। आगे चलकर 1917 की रूसी मज़दूर क्रान्ति ने इसी कड़ी को आगे बढ़ाया।

मज़दूर वर्ग के इस साहसिक कारनामे से फ्रांस ही नहीं, सारी दुनिया के पूँजीपतियों के कलेजे काँप उठे। उन्होंने मज़दूरों के इस पहले राज्य का गला घोंट देने के लिए एड़ी-चोटी का ज़ोर लगा दिया और आख़िरकार मज़दूरों के कम्यून को उन्होंने ख़ून की नदियों में डुबो दिया। लेकिन कम्यून के सिद्धान्त अमर हो गये। पेरिस कम्यून की हार से भी दुनिया के मज़दूर वर्ग ने बेशक़ीमती सबक़ सीखे। पेरिस के मज़दूरों की क़ुर्बानी मज़दूर वर्ग को याद दिलाती रहती है कि पूँजीवाद को मटियामेट किये बिना उसकी मुक्ति नहीं हो सकती। 'मज़दूर बिगुल' के मार्च 2012 अंक से दुनिया के पहले मज़दूर राज की सचित्र कथा की शुरुआत की गयी थी, जिसकी अब तक नौ किस्तें प्रकाशित हुई हैं। पिछले कुछ अंकों से इसका प्रकाशन नहीं हो पा रहा था लेकिन पिछले अंक से हमने इसे फिर शुरू किया है।

इस शृंखला की शुरुआती कुछ किश्तों में हमने पेरिस कम्यून की पृष्ठभूमि के तौर पर जाना कि पूँजी की सत्ता के ख़िलाफ़ मज़दूरों का संघर्ष किस तरह क़दम-ब-क़दम विकसित हुआ। हमने जाना कि कम्यून की स्थापना कैसे हुई और उसकी रक्षा के लिए मेहनतकश जनता किस प्रकार बहादुरी के साथ लड़ी। हमने यह भी देखा कि कम्यून ने सच्चे जनवाद के उसूलों को इतिहास में पहली बार अमल में कैसे लागू किया और यह दिखाया कि "जनता की सत्ता" वास्तव में क्या होती है। पिछली कड़ी से हम उन ग़लतियों पर नज़र डाल रहे हैं जिनकी वजह से कम्यून की पराजय हुई। इन ग़लतियों को ठीक से समझना और पूँजीवाद के ख़िलाफ़ निर्णायक जंग में जीत के लिए उनसे सबक़ निकालना मज़दूर वर्ग के लिए बहुत ज़रूरी है।

कम्यून की हिफ़ाज़त में अन्तिम दम तक लड़े मज़दूर

ऊपर: कम्यून के लाल झण्डे तले पूँजीपतियों की फ़ौज के साथ आर-पार के मुक़ाबले में जुटे नेशनल गार्ड के सैनिक और पेरिस के जांबाज़ मज़दूर।
दायें: बैरिकेडों पर संघर्ष की तैयारी में लगे हुए पेरिस के मेहनतकश लोग।
पेरिस कम्यून के बहादुर रक्षकों ने शहर में तो मज़दूर वर्ग की फौलादी सत्ता कायम की और बुर्जुआ वर्ग के साथ कोई रियायत नहीं बरती, लेकिन वे भूल गये कि पेरिस के बाहर थियेर के पीछे सिर्फ फ्रांस के ही नहीं, बल्कि पूरे यूरोप के प्रतिक्रियावादी एकजुट हो रहे हैं। इस चूक की क़ीमत उन्हें अपने ख़ून से चुकानी पड़ी।

1. कम्यून के सदस्य बहुमत (यानी ब्लांकीवादी, जिनकी राष्ट्रीय गार्ड की केन्द्रीय समिति में प्रधानता थी) और अल्पमत (यानी अन्तरराष्ट्रीय मज़दूर-संघ, पहले इण्टरनेशनल के सदस्य, जिनमें मुख्यत: प्रूदों के समाजवादी मत के अनुयायी थे) में बँटे हुए थे। ब्लांकीवादियों का प्रबल बहुमत केवल क्रान्तिकारी सर्वहारा की सहज-प्रवृत्ति के कारण समाजवादी था; उनमें से केवल कुछ ही के पास अपेक्षाकृत अधिक सैद्धान्तिक समझ थी। इसलिए यह बात समझ में आती है कि आर्थिक क्षेत्र में बहुत से ऐसे काम नहीं किये गये जिन्हें कम्यून को करना चाहिये था। मार्क्स ने इस बात पर हैरानी ज़ाहिर की कि बैंक-ऑफ-फ्रांस के फाटक के सामने वे क्यों इस तरह अदब के साथ खड़े रहे, जैसे कि बैंक कोई देवस्थान हो? यह एक संगीन राजनीतिक भूल थी। कम्यून के हाथों में बैंक का होना दस हज़ार बन्धकों से अधिक मूल्यवान वस्तु होती। ऐसा होने पर पूरा फ्रांसीसी पूँजीपति वर्ग वर्साय-सरकार पर कम्यून के साथ सुलह कर लेने के लिए दबाव डालता। लेकिन इस ग़लती के बावजूद, ब्लांकीवादियों और प्रूदोंवादियों द्वारा गठित कम्यून ने जो कुछ किया वह ज़्यादातर सही था। कम्यून के प्रूदोंवादी सदस्य उसके आर्थिक आदेशों के लिए, उनके प्रशंसनीय और अप्रशंसनीय दोनों पहलुओं के लिए, मुख्यत: जिम्मेदार थे; और उसकी राजनीतिक कार्रवाइयों या ग़लतियों के लिए मुख्यत: ब्लांकीवादी सदस्य ज़िम्मेदार थे और दिलचस्प बात यह है कि इन दोनों ने उस समय की परिस्थितियों में अपनी-अपनी विचारधारा से ठीक उल्टा कार्य किया।।

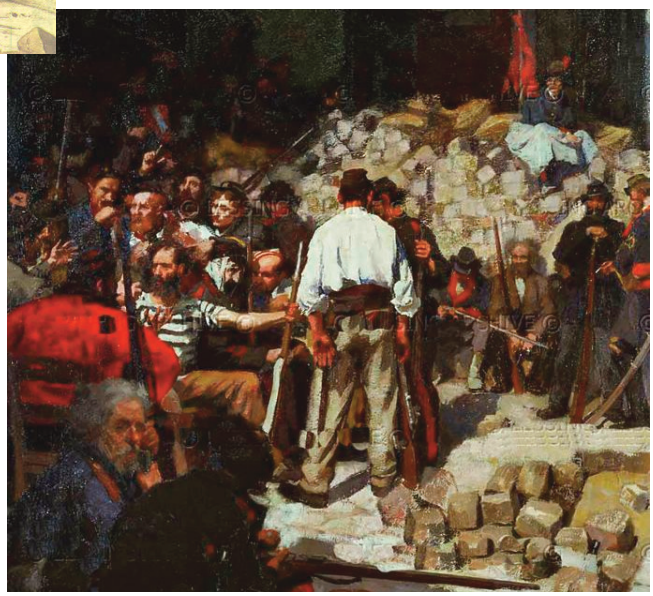

2. छोटे किसानों और दस्तकार उस्तादों का समर्थक प्रूदों संघबद्धता से सख़्त नफ़रत करता था। उसका कहना था कि संघबद्धता में अच्छाई से अधिक बुराई है, क्योंकि वह मज़दूर की स्वतंत्रता के लिए बन्धन है। केवल बड़े पैमाने के उद्योगों और संस्थापनों, उदाहरणार्थ रेलवे में, जिन्हें प्रूदों ने अपवाद कहा, मज़दूरों का संघ उपयुक्त था। लेकिन 1871 में कलात्मक दस्तकारी के केन्द्र पेरिस तक में बड़े पैमाने का उद्योग अपवाद नहीं रह गया था। कम्यून की अपेक्षाकृत सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण आज्ञप्ति द्वारा बड़े पैमाने के उद्योग का, मैनुफेक्चर तक का संगठन खड़ा किया गया जिसे प्रत्येक फ़ैक्टरी के मज़दूरों के संघ पर ही आधारित नहीं होना था, बल्कि इन सब संघों को एक बड़ी यूनियन में संयुक्त भी करना था यानी एक ऐसा संगठन जो अनिवार्यत: अन्त में कम्युनिज़्म, यानी प्रूदों के मत से ठीक उल्टी चीज़ का मार्ग प्रशस्त करता।

3. ब्लांकीवादियों के लिए क्रान्ति का मतलब था षड्यंत्र। उनका मूल दृष्टिकोण यह था कि अपेक्षाकृत थोड़े-से दृढ़संकल्प और सुसंगठित लोग, अनुकूल अवसर पर, न केवल राज्य की बागडोर अपनी मुट्ठी में कर सकते हैं, बल्कि ज़बरदस्त और निष्ठुर शक्ति का प्रदर्शन करते हुए, तब तक सत्ता को अपने हाथ में रख सकते हैं, जब तक वे आम जनता को क्रान्ति में खींच लाने तथा उन्हें नेताओं के एक छोटे से दल के चारों ओर एकजुट कर देने में सफल नहीं होते। इसका अर्थ यह था कि नयी क्रान्तिकारी सरकार के हाथ में सम्पूर्ण सत्ता कठोरतमरूप में केन्द्रीकृत होनी चाहिये। पर वास्तव में कम्यून ने, जिसमें इन्हीं ब्लांकीवादियों का बहुमत था, क्या किया? प्रान्तों में बसने वाले फ्रांसीसियों के नाम अपनी सभी घोषणाओं में उसने अपील की कि वे पेरिस के साथ सभी फ्रांसीसी कम्यूनों का एक स्वतंत्र संघ बनायें, एक ऐसा राष्ट्रीय संगठन बनायें, जो पहली बार स्वयं राष्ट्र द्वारा निर्मित किया जाये।

4. कम्यून आरम्भ से ही यह महसूस करने को बाध्य हुआ था कि मज़दूर वर्ग एक बार सत्ता पा लेने पर पुरानी राज्य-मशीनरी से काम नहीं चला सकता। उसने यह समझ लिया कि अपनी प्रभुता को सुरक्षित रखने के लिए इस मज़दूर वर्ग को एक ओर तो पुराने दमनकारी राज्यतंत्र को, जो पहले उसके ख़िलाफ़ इस्तेमाल किया जाता था, ख़त्म करना होगा और दूसरी ओर उसे अपने ही प्रतिनिधियों और अफ़सरों से अपनी हिफ़ाजत करने के लिए यह घोषित करना होगा कि उनमें से किसी को भी, बिना अपवाद के, किसी भी क्षण हटाया जा सकेगा। कम्यून के पदाधिकारियों से लेकर अफ़सर और मजिस्ट्रेट तक, सभी सीधे जनता द्वारा चुने जाते थे और उन्हें हटाया जा सकता था।

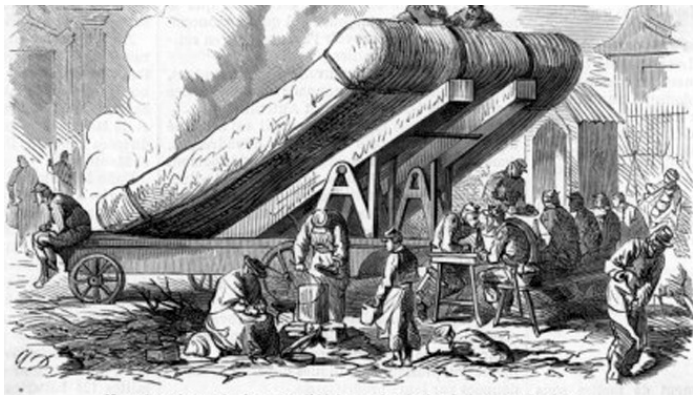

कम्यून की रक्षा की लड़ाई में सड़कों पर खड़े किये गये बैरिकेडों की बहुत बड़ी भूमिका थी। ऊपर के चित्र में जनता द्वारा बनाया गया एक यंत्र दिख रहा है जिसका इस्तेमाल बैरिकेड बनाने में किया जाता था। ऊपर बायें चित्र में एक बैरिकेड पर तैनात नेशनल गार्ड के योद्धा लाल झण्डे के साथ।

5. पेरिस कम्यून को फ्रांस के सभी बड़े औद्योगिक केन्द्रों के लिए उदाहरण बन जाना था। पेरिस तथा माध्यमिक केन्द्रों में सामुदायिक शासन-व्यवस्था की एक बार स्थापना हो जाने के बाद प्रान्तों में भी पुरानी केन्द्रीभूत सरकार को हटा कर वहाँ उत्पादकों का स्वशासन क़ायम किया जाता। राष्ट्रीय संगठन के एक प्राथमिक खाके में, जिसे विशद बनाने का कम्यून को समय नहीं मिल सका, कम्यून ने स्पष्ट रूप से कहा था कि छोटे से छोटे पुरवे का भी राजनीतिक ढाँचा कम्यून होगा और देहाती इलाकों में स्थायी सेना का स्थान राष्ट्रीय मिलीशिया लेगी जिसकी सेवा-अवधि अल्पकालिक होगी। प्रत्येक ज़िले के ग्रामीण कम्यून अपने केन्द्रीय नगर में, प्रतिनिधियों की एक सभा द्वारा, अपने सम्मिलित मामलों का प्रबन्ध करेंगे। ये ज़िला सभाएँ पेरिस-स्थित राष्ट्रीय प्रतिनिधि-सभा में अपने प्रतिनिधि भेजेंगी। प्रत्येक प्रतिनिधि किसी भी समय वापस बुलाया जा सकेगा और वह अपने निर्वाचकों की औपचारिक हिदायतों से बँधा होगा। कम्यून के शासन में राष्ट्र की एकता भंग नहीं होती, बल्कि इसके विपरीत, कम्यून के संविधान द्वारा वह संगठित की जाती और पूँजीवादी राज्य-सत्ता के विनाश द्वारा वास्तविक राष्ट्रीय एकता क़ायम होती। पुरानी शासन-सत्ता के वे अंग जो केवल दमनकारी थे काटकर अलग कर दिये जाते, पर उसके जायज़ काम समाज के प्रति जवाबदेह अभिकर्त्ताओं के हाथों में सौंप दिये जाते। लेकिन इन कामों को आगे बढ़ाने के लिए कम्यून को समय ही नहीं मिला।

पेरिस की एक कब्रगाह में मज़दूरों ने आख़िरी मोर्चा लिया।

1848 की क्रान्ति वह पहला मौक़ा था जब पूँजीपति वर्ग ने यह दिखाया कि जिस क्षण सर्वहारा अपने अलग हितों और अपनी अलग माँगों के साथ एक अलग वर्ग के रूप में खड़े होने का दुस्साहस करेगा, उस समय प्रतिशोध में पूँजीपति किस प्रकार पागलपन और क्रूरता का नंगा नाच दिखा सकते हैं। लेकिन 1871 में पूँजीपतियों ने जैसा वहशीपन दिखाया उसके आगे 1848 बच्चों का खेल था।

6. कम्यून में चूँकि प्राय: केवल मज़दूर या मज़दूरों के जाने-माने प्रतिनिधि बैठते थे इसलिए उसके निर्णयों का, निश्चित रूप से, सर्वहारा स्वरूप था। कम्यून ने अनेक ऐसी आज्ञप्तियाँ जारी कीं जो सीधे-सीधे मज़दूर वर्ग के हित में थीं और जो कुछ हद तक पुरानी समाज-व्यवस्था पर गहरा आघात पहुँचाती थीं। पर ऐसे नगर में जो दुश्मन के घेरे में हो, अधिक से अधिक इन चीज़ों को पूरा करने की शुरुआत ही हो सकती थी। मई 1871 के शुरू से ही कम्यून की सारी शक्ति, वर्साय-सरकार की नित्य बढ़ती हुई सेना से युद्ध करने में लग गयी। पेरिस पर लगातार गोलाबारी की जा रही थी–उन्हीं लोगों द्वारा, जिन्होंने प्रशा की फ़ौजों द्वारा इस नगर की गोलाबारी को धर्म-विरोधी आचरण कहा था। वे ही लोग अब प्रशा की सरकार से भिक्षा माँग रहे थे कि सेदान और मेत्ज में बन्दी बनाये गये फ्रांसीसी सैनिक जल्दी से लौटा दिये जायें, ताकि वे आकर उनके लिए पेरिस पर फिर कब्ज़ा कर लें।

7. मई के आरम्भ से इन सैनिकों के धीरे-धीरे वापस लौटने के कारण वर्साय की सैन्य-शक्ति निश्चित रूप से अधिक प्रबल हो गयी। वर्साय की फ़ौजों ने दक्षिणी मोर्चे पर मूलैं-साके के गढ़ पर 3 मई को कब्ज़ा कर लिया, 9 तारीख़ को फोर्ट-इस्सी पर उनका अधिकार हो गया जो गोलाबारी से बिलकुल खण्डहर हो चुका था, और 14 मई को फोर्ट-वांव उनके हाथ में आ गया। पश्चिमी मोर्चे पर वे नगर की दीवारों तक फैले अनेक गाँवों और इमारतों पर कब्ज़ा करते हुए धीरे-धीरे बढ़ कर मुख्य रक्षादुर्गों तक जा पहुँचीं।

ऊपर: स्त्री कम्युनार्डों की टुकड़ी मर्दों के कन्धे से कन्धा मिलाकर मोर्चे पर जाते हुए।
दायें: लड़ाई में जीतने के साथ ही बुर्जुआ सेना ने मेहनतकशों का भयानक दमन शुरू किया। कम्यून की जुझारू स्त्रियों पर सेना और अफ़सरों ने सबसे अधिक ग़ुस्सा निकाला।

8. 21 मई को गद्दारी तथा उस जगह पर तैनात राष्ट्रीय गार्ड की लापरवाही के कारण वर्साय की सेनाएँ नगर में प्रवेश करने में सफल हुईं। इस भूमि की रक्षा का प्रबन्ध पेरिसवासियों ने, उसे युद्धविराम की शर्तों के अधीनस्थ समझ कर स्वभावतया ढीला छोड़ दिया था। इसके फलस्वरूप, पेरिस के पश्चिमी हिस्से में, यानी अमीरों के ख़ास इलाके में प्रतिरोध कमज़ोर रहा; पर ज्यों-ज्यों अन्दर दाख़िल होने वाली फ़ौजें नगर के पूर्वी आधे हिस्से, यानी ख़ास मज़दूर इलाके के निकट आती गयीं, त्यों-त्यों उनका ख़ूब डटकर मुक़ाबला किया जाने लगा। पूरे आठ दिनों के युद्ध के बाद कहीं जाकर कम्यून के अन्तिम रक्षक बेलवील और मेनीलमांतां की चढ़ाइयों पर परास्त हुए। और तब निहत्थे मर्दों, औरतों और बच्चों का हत्याकाण्ड, जो बढ़ते हुए पैमाने पर पूरे हफ़्ते भर से चल रहा था, चरम बिन्दु पर पहुँच गया।

चूंकि तोड़ेदार बन्दूकों द्वारा लोगों को जल्दी से मौत के घाट नहीं उतारा जा सकता था, इसलिए सैकड़ों की संख्या में हारे हुए लोगों को एक साथ मित्रैयोज (एक प्रकार की मशीनगन) की गोलियों से भून दिया जाता था। पेयर-लाशेज के क़ब्रिस्तान में "फेडरलों की दीवार", जहाँ आख़िरी क़त्लेआम हुआ था, आज भी इस बात के मूक किन्तु व्यंजनापूर्ण प्रमाण के रूप में खड़ी है कि मज़दूर वर्ग जब अपने अधिकारों के लिए लड़ने का साहस करता है तो शासक वर्ग के ऊपर खून सवार हो जाता है।

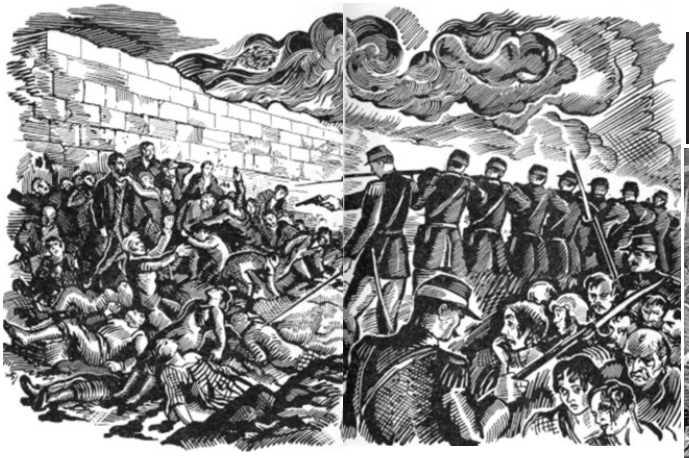

कम्यून के रक्षकों का आख़िरी मोर्चा। पहले मज़दूर राज की हिफ़ाज़त के लिए वे अन्तिम दम तक लड़ते रहे, लेकिन वे चारों ओर से घिर चुके थे और दुश्मन उनसे बहुत अधिक तादाद में था।

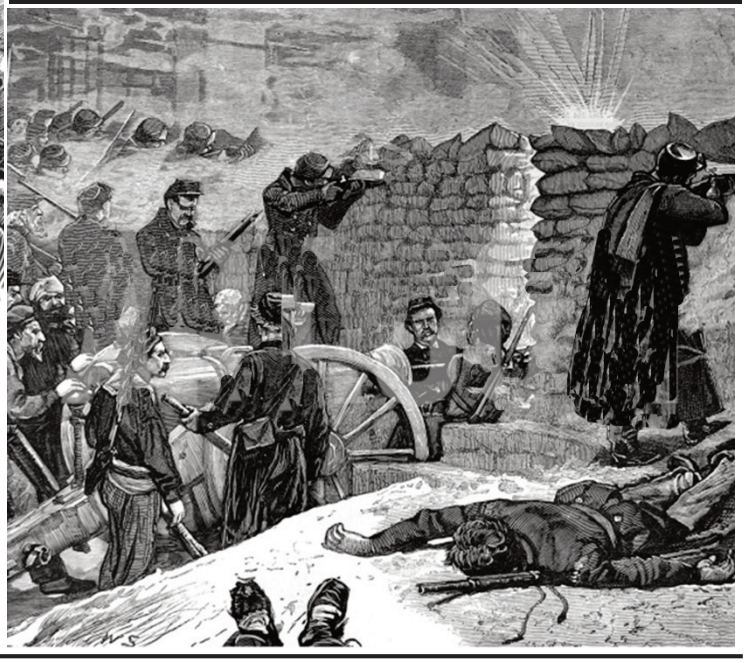

9. जब सभी को क़त्ल कर देना असम्भव साबित हुआ, तो आम गिरफ़्तारियों की बारी आयी, और बन्दियों में से मनमाने तौर पर कुछ को चुनकर गोलियों से उड़ाया जाने लगा और बाक़ी लोग बड़े-बड़े शिविरों में पहुँचाये गये, जहाँ उन्हें कोर्ट-मार्शल का इन्तज़ार करना था। पेरिस के उत्तर-पूर्वी हिस्से पर घेरा डाले हुए प्रशा के सैनिकों को यह आज्ञा थी कि वे किसी को उधर से भागने न दें; लेकिन जब सिपाही, आलाकमान के आदेश की बजाय मानवीय भावनाओं के आदेश का अधिक सम्मान करते थे, तो अफ़सर भी जानबूझ कर अनदेखी कर जाते थे। इस सम्बन्ध में सैक्सन फ़ौजी दस्ता विशेष रूप से इन्सानियत से पेश आया और उसने ऐसे बहुत से लोगों को निकल जाने दिया जो साफ़-साफ़ कम्यून के सिपाही थे।

(अगले अंक में जारी...)

कैसा है यह लोकतंत्र और यह संविधान किसकी सेवा करता है (बाइसवीं क़िस्त)

भारतीय राज्यसत्ता : पूँजीपति वर्ग की तानाशाही को मूर्त रूप देता एक दमनकारी तन्त्र

• आनन्द सिंह

इस धारावाहिक लेख की चार क़िस्तें 'मज़दूर बिगुल' के पूर्ववर्ती 'नयी समाजवादी क्रान्ति का उद्घोषक बिगुल' में प्रकाशित हुई थी। इसकी पहली बारह क़िस्तों के लेखक आलोक रंजन हैं। – सम्पादक

पिछली क़िस्त में हमने भारतीय राज्यसत्ता के एक स्तम्भ विधायिका की विस्तृत चर्चा की थी। इस क़िस्त में हम इसके दूसरे प्रमुख स्तम्भ कार्यपालिका के स्वरूप की चर्चा करेंगे। लोकसभा चुनाव (राज्यों में विधानसभा चुनाव) के बाद जब यह तय हो जाता है कि लुटेरों के किस गिरोह को अगले पाँच साल के लिए जनता को लूटने का ठेका मिला है, तो फिर मीडिया में अगली सरकार, अगले मन्त्रिमण्डल और अगले प्रधानमन्त्री के बारे में कयास लगने शुरू हो जाते हैं। नीरा राडिया टेपकाण्ड के बाद अब यह दिन के उजाले की तरह साफ़ हो गया है कि मन्त्रिमण्डल बनाने की समूची प्रक्रिया में टाटा और अम्बानी से लेकर क्षेत्रीय पूँजीपतियों तक का सक्रिय हस्तक्षेप रहता है। पूँजीपतियों के तमाम गुटों के बीच खींच-तान और मोल-तोल के बाद ही मन्त्रिमण्डल का अन्तिम स्वरूप तय हो पाता है। इस मामले में भारतीय कार्यपालिका मार्क्स और एंगेल्स की इस प्रस्थापना को शब्दश: लागू करती प्रतीत होती है कि पूँजीवादी लोकतन्त्र में सरकार पूँजीपतियों की मैनेजिंग कमेटी का काम करती है। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि सरकार किसी एक पूँजीपति के हित में नहीं बल्कि समूचे पूँजीपति वर्ग के हित में काम करती है। पूँजीपति वर्ग को सरकार की ज़रूरत इसलिए पड़ती है क्योंकि अपनी स्वत:स्फूर्त गति से आपसी गलाकाटू प्रतिस्पर्धा में अंधे होकर जब पूँजीपति एक दूसरे के विनाश की हद तक जा पहुँचें तो ऐसे में सरकार उनके दूरगामी हित को ध्यान में रखते हुए इस प्रतिस्पर्धा का विनियमन करे और इस समूचे लूट तन्त्र के ख़िलाफ़ नियमित रूप से उभरने वाले जनता के प्रतिरोध का दमन करे।

सरकार का नेतृत्व प्रधानमन्त्री (राज्यों में मुख्यमन्त्री) करता है। आम तौर पर प्रधानमन्त्री ऐसे व्यक्ति को बनाया जाता है जिसकी जनता के बीच बेदाग़ और ईमानदार नेता जैसी छवि हो ताकि उसकी छवि की आड़ में समूची व्यवस्था के लूट-तन्त्र पर पर्दा डाला जा सके। मिसाल के तौर पर संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन की मौजूदा सरकार को ही लें। इस सरकार का नेतृत्व एक ऐसे व्यक्ति के हाथों में हैं जिसकी आम जनता के बीच एक सभ्य, सुसंस्कृत और ईमानदार व्यक्ति की छवि है। परन्तु इस सरकार की गिनती निर्विवाद रूप से आज़ादी के बाद की सबसे भ्रष्ट और लुटेरी सरकारों में की जायेगी। यह बात दीगर है कि तमाम घोटालों में नाम आने की वजह से 'ईमानदार' और 'बेदाग़' प्रधानमन्त्री महोदय की छवि को भी बट्टा लग गया है। हालाँकि अभी भी इस व्यवस्था की मुख्य लूट यानी कि श्रम की लूट को बढ़ावा देने में इन महोदय के योगदान के बारे में आम जनता कम ही जानती है क्योंकि अभी भी ये महानुभाव एक बड़े अर्थशास्त्री के रूप में प्रसिद्ध हैं। ऐसे महानुभावों के शीर्ष पर होने से इस व्यवस्था के पैरोकारों के लिए जनता के बीच यह भ्रम फैलाना आसान हो जाता है कि इस व्यवस्था में प्रतिभा की कद्र होती है और अगर ऐसे 'प्रतिभावान' लोगों की संख्या बढ़ेगी तो इस व्यवस्था की कमियाँ खुद-ब-खुद दूर हो जायेंगी।

आधिकारिक तौर पर इस व्यवस्था में कार्यपालिका का कार्यभार मन्त्रिमण्डल के ज़िम्मे होता है। परन्तु असलियत में शासन-प्रशासन की समूची व्यवस्था का संचालन केन्द्रीय सचिवालय से लेकर राज्यों के सचिवालयों से होता हुआ ज़िलों तक और गाँवों की तहसीलों और ब्लॉकों तक फैला नौकरशाही का विराट तन्त्र करता है जिसको स्थायी कार्यपालिका भी कहते हैं क्योंकि सरकारें तो आती-जाती रहती हैं, परन्तु नौकरशाही स्थायी रूप से शासन-प्रशासन की बागडोर सँभालती है। यह नौकरशाही ही है जो वास्तव में राज्यसत्ता की आँख, कान और नाक का काम करती है। रोज़मर्रा की ज़िन्दगी में आम जनता इसी नौकरशाही के ज़रिये राज्यसत्ता के सम्पर्क में आती है। लेकिन यह महज़ नाम के लिए नौकरशाही है, यदि जनता के प्रति इसके आचरण को नामकरण का आधार बनाया जाये तो वास्तव में इसका नाम मालिकशाही होना चाहिए क्योंकि इस विराट तन्त्र पर इसके औपनिवेशिक अतीत की प्रेतछाया आज तक मौजूद है। इसका समूचा ढाँचा, इसके काम करने का तौर-तरीका और सबसे महत्वपूर्ण रूप से इसका जनता के प्रति रुख हमें आज भी औपनिवेशिक गुलामी की याद दिलाता है।

नौकरशाही के शीर्ष पर आईएएस और आईपीएस जैसी ऑल इण्डिया सर्विसेज़ के अधिकारी विराजमान रहते हैं जिनकी ख़ासियत यह होती है कि वे केन्द्र और राज्य दोनों सरकारों के तहत काम करते हैं। सरकारों के नीतिगत फैसले लेने और उनको लागू करवाने में इनकी प्रमुख भूमिका होती है। कुलीन अधिकारियों की ये ऑल इण्डिया सर्विसेज़ भी औपनिवेशिक अतीत की काली विरासत है जिसको अंग्रेज़ों के शासन का 'स्टील फ्रेम' कहा जाता था क्योंकि समूची औपनिवेशिक सत्ता इन्हीं के बूते क़ायम थी। आज भी ये कुलीन सर्विसेज़ पूँजीवादी सत्ता के आधार-स्तम्भ का काम करती हैं। इन सर्विसेज़ से आने वाले अधिकारी कहने को तो जनता के सेवक माने जाते हैं परन्तु वास्तव में ये जनता की ज़िन्दगी से कटे हुए होते हैं और शासक वर्गों जैसी विलासिता भरी ज़िन्दगी बिताते हैं। जनता के प्रति आज भी ये 'माई-बाप' जैसा बर्ताव करते हैं। इन कुलीन अधिकारियों को तमाम विशेषाधिकार मिले रहते हैं और शायद दुनिया में यह अकेली ऐसी सर्विसेज़ होंगी जिसको संवैधानिक संरक्षण भी प्राप्त है।

कुछ वर्षों पहले सिविल सर्विसेज़ में सुधार लाने के लिए गठित वाई.के. अलग कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में इस बात पर आश्चर्य व्यक्त किया था कि सिविल सर्विसेज़ के अधिकारी औपनिवेशिक और शासक मानसिकता से ग्रस्त होते हैं न कि जनता के प्रति सेवाभाव की मानसिकता से। यदि वाई.के. अलग महोदय इन सर्विसेज़ की किताबी परिभाषा की बजाय इनके वास्तविक चरित्र और इनके इतिहास पर ग़ौर फ़रमाते तो शायद इनके अधिकारियों की मानसिकता को लेकर इतने व्यथित और अचम्भित नहीं होते। इन सर्विसेज़ का जन्म ही शासक वर्गों की शोषणकारी सत्ता को चाक-चौबन्द करने के लिए हुआ है। ऐसे में यदि लुटेरे वर्गों की ख़िदमत करने वाले अधिकारीगण भी जनता के प्रति शासकों जैसा व्यवहार करें तो भला इसमें इतने आश्चर्य की क्या बात है!

नौकरशाही को नियन्त्रित करने वाले तमाम क़ायदे-कानून – सिविल प्रोसीज़र कोड, क्रिमिनल प्रोसीज़र कोड, इन्डियन एविडेंस एक्ट, जेल मैनुअल आदि औपनिवेशिक जमाने में बनाये गये हैं और ये सत्ता को सुचारु रूप से चलाने में इतने क़ारगर साबित हुए कि आज भी महज़ चन्द बदलावों के साथ ये लागू हैं। कहने को तो आज़ादी के बाद कानून और व्यवस्था बनाये रखने के बजाय नौकरशाही की मुख्य ज़िम्मेदारी विकास और कल्याणकारी प्रशासन की हो गयी है, परन्तु इस विकास और कल्याणकारी प्रशासन का हास्यास्पद पहलू यह है कि इसमें जनता की कोई भागीदारी नहीं होती है और वास्तव में यह जनता पर हुकूमत गाँठने का ही एक दूसरा नाम है। इन दिनों जनता की भागीदारी के नाम पर कुछ स्वयं सेवी गैर सरकारी संस्थाओं (एन.जी.ओ.) के ज़रिये कुछ कल्याणकारी स्कीमें लागू की जाती हैं और उनसे सोशल ऑडिट आदि कराने का अनुष्ठान कराया जाता है। इस एन.जी.ओ. राजनीति का साम्राज्यवादी और जनविरोधी चरित्र अब जगजाहिर हो चुका है।

राज्यसत्ता का असली स्वरूप तब सामने आता है जब जनता अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करती है और कोई आन्दोलन संगठित होता है। ऐसे में विकास प्रशासन और कल्याणकारी प्रशासन का लबादा खूँटी पर टाँग दिया जाता है और दमन का चाबुक हाथ में लेकर राज्यसत्ता अपने असली खूनी पंजे और दाँत यानी पुलिस, अर्द्ध-सुरक्षा बल और फ़ौज सहित जनता पर टूट पड़ती है। पुलिस से तो वैसे भी जनता का सामना रोज़-मर्रे की जिन्दगी में होता रहता है। पुलिस रक्षक कम और भक्षक ज़्यादा नज़र आती है। आज़ादी के छह दशक बीतने के बाद भी आलम यह है कि ग़रीबों और अनपढ़ों की तो बात दूर, पढ़े लिखे और जागरूक लोग भी पुलिस का नाम सुनकर ही ख़ौफ़ खाते हैं। ग़रीबों के प्रति तो पुलिस का पशुवत रवैया गली-मुहल्लों और नुक्कड़-चौराहों पर हर रोज़ ही देखा जा सकता है। भारतीय पुलिस टॉर्चर, फ़र्जी मुठभेड़, हिरासत में मौत, हिरासत में बलात्कार आदि जैसे मानवाधिकारों के हनन के मामले में पूरी दुनिया में कुख़्यात है। महिलाओं के प्रति भी पुलिस का दृष्टिकोण मर्दवादी और संवेदनहीन ही होता है जिसकी बानगी आये दिन होने वाली बलात्कार की घटनाओं पर आला पुलिस अधिकारियों की टिप्पणियों में ही दिख जाती है जो इन घटनाओं के लिए महिलाओं को ही ज़िम्मेदार ठहराते हैं। भारतीय पुलिस के चरित्र को लेकर कुछ वर्षों पहले इलाहाबाद उच्च न्यायालय के न्यायाधीश जस्टिस आनन्द नारायण मुल्ला ने एक बेहद सटीक टिप्पणी की थी कि भारतीय पुलिस जैसा संगठित अपराधियों का गिरोह देश में दूसरा कोई नहीं है।

जब पुलिस के डण्डे से राज्यसत्ता जनता को क़ाबू में नहीं कर पाती तो उसका अगला अगला मोहरा होता है आर ए एफ, सीआरपीएफ, बीएसएफ जैसे अर्द्ध-सुरक्षा बल जो अत्याधुनिक हथियारों से लैस होते हैं और लोगों का बर्बर दमन करने के लिए विशेष रूप से प्रशिक्षण प्राप्त होते है। आज़ादी के बाद भारतीय बुर्जुआ राज्यसत्ता ने अपनी ताकत सुदृढ़ करने के लिए कई नए अर्द्ध-सुरक्षा बलों की स्थापना की और इनमें जवानों की संख्या में बेतहाशा बढ़ोत्तरी की है। इनकी उपस्थिति मात्र से एक दहशत भरा माहौल पैदा हो जाता है। इस दहशत भरे माहौल का इस्तेमाल राज्यसत्ता जनान्दोलनों को डराने-धमकाने के लिए बखूबी इस्तेमाल करती है। किसी भी जन-प्रदर्शन और जुलूस के दौरान ये अर्द्ध-सुरक्षा बल अपनी लाठियों और हथियारों सहित इसीलिए तैनात किये जाते हैं कि जनता एक सीमा से आगे अपने अधिकारों का सवाल उठाने के पहले ही दहशत में आ जाये। इसके अतिरिक्त इन अर्द्ध-सुरक्षा बलों का इस्तेमाल अलगाववादी आन्दोलनों और जनविद्रोहों को भी बर्बरता से कुचलने में किया जाता है।

भारतीय राज्यसत्ता की हिफ़ाज़त में तैनात सुरक्षा बलों के शीर्ष पर फ़ौज होती है जो न सिर्फ़ बाहरी आक्रमण का मुकाबला करने के लिए प्रशिक्षित होती है बल्कि देश के भीतर भी जन-बग़ावतों पर क़ाबू पाने के लिए भी विशेष रूप से प्रशिक्षित प्राप्त होती है। जम्मू-कश्मीर और उत्तर-पूर्व जैसे इलाकों में, जहाँ जनता अपने आत्मनिर्णय के अधिकार को लेकर आन्दोलित है, फौज का दबदबा इतना ज़्यादा है कि यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि वहाँ सैनिक शासन जैसी स्थिति है। इन इलाकों में कुख़्यात सुरक्षा बल विशेषाधिकार कानून (ए. एफ.एस.पी.ए.) लागू है जो वस्तुत: सेना को किसी भी प्रकार की जवाबदेही से मुक्त करता है। पिछले कुछ वर्षों से नक्सलवाद से प्रभावित इलाकों में भी सेना को भेजने की बातें चल रही हैं।

हालाँकि पिछले कई दशकों से भारत का किसी भी देश के साथ प्रत्यक्ष युद्ध नहीं हुआ है, फिर भी भारतीय सेना की गिनती दुनिया की सबसे भारी भरकम सेनाओं में होती है। आज़ादी

(पेज 5 पर जारी)

16 दिसम्बर : क्यों बढ़ रहे हैं ऐसे जघन्य अपराध और प्रतिरोध का रास्ता क्या है?

(पेज 16 से आगे)

घरों के किशोरों और युवाओं तक भी नशीली दवाओं, पोर्न फिल्मों, पोर्न वेबसाइटों आदि की ऐसी पहुँच बन गयी है, जिसे रोक पाना सम्भव नहीं रह गया है। यही नहीं, मज़दूर बस्तियों में भी पोर्न फिल्मों की सी.डी. का एक बड़ा बाज़ार तैयार हुआ है। वहाँ मोबाइल रीचार्जिंग की दुकानों पर मुख्य काम अश्लील वीडियो और एम.एम.एस. क्लिप्स बेचने का होता है। दिल्ली की मज़दूर बस्तियों में यह सब आम बात है। प्रसिद्ध अध्येता यान ब्रेमेन के अध्ययन के अनुसार, सूरत में हीरातराशी के जिन नियमित स्वेटशॉप्स में दिन भर काठियावाड़ी नौजवान हाड़तोड़ काम करते हैं, वही रात में ऐसी उमसभरी माँदों में तब्दील हो जाते हैं जहाँ पश्चिम से आयातित विकृत से विकृत परपीड़क पोर्न सी. डी. देखी जाती हैं। इस सच्चाई की अनदेखी नहीं की जा सकती कि आज की पूँजीवादी व्यवस्था में अनिश्चितता, मायूसी और तंगहाली के घने अँधेरे में जी रही मेहनतकश आबादी का एक अच्छा-ख़ासा हिस्सा विकृत पोर्न संस्कृति की नशीली खुराक में जीने का सहारा तलाश रहा है। मज़दूर आन्दोलन के गतिरोध, पतन और विघटन की भी इसमें एक अहम भूमिका है। आज के हालात में, अभी भी कुछ मेहनतकश ऐसे हैं जो विद्रोह कर रहे हैं या लड़ाई का सही रास्ता तलाश रहे हैं। कुछ ऐसे हैं जो मायूसी, अवसाद और विमानवीकारी जीवन स्थितियों के कारण नशे और अश्लील फिल्मों आदि की लत की चपेट में आ रहे हैं। और इन्हीं में से कुछ ऐसे भी हैं जो पूरी तरह विमानवीकृत होकर लम्पट-अपराधी बन रहे हैं। ऐसे ही कुछ लम्पट-अपराधी तत्व 16 दिसम्बर की घटना सहित बच्चियों और औरतों के ख़िलाफ़ हाल के कई बर्बर अपराधों में शामिल रहे हैं।

पूँजीवादी रुग्ण संस्कृति का ज़हर सिर्फ़ शहरी परजीवी अमीरों और गाँवों के कुलकों-फार्मरों के बेटों की ही नहीं, बल्कि आम मध्यवर्गीय युवाओं और मज़दूरों की नसों में भी घुल रहा है। भारतीय गाँवों, और शहरों तक में अभी भी समाज में जिस तरह स्त्री-पुरुष पार्थक्य और मध्ययुगीन, गैरजनवादी, स्त्री विरोधी मूल्यों-मान्यताओं का प्रभाव है, उससे न तो शहरी मध्यवर्ग मुक्त है, न ही मज़दूर वर्ग। ऐसी स्थिति में, भारत जैसे पिछड़े पूँजीवादी देशों की विडम्बना है कि नवउदारवाद के दौर की "खुलेपन" की नग्न-फूहड़ संस्कृति यहाँ यौन-अपराधों को खुलकर बढ़ावा दे रही है। लेकिन यह मानना ग़लत होगा कि यह समस्या मुख्यत: पिछड़े समाजों की है। बर्बर यौन अपराध और रुग्ण यौनाचार आज के पूँजीवाद की सार्वभौमिक संस्कृति है। पश्चिम के विकसित देशों में स्त्री-पुरुष सम्बन्धों में आज़ादी और खुलापन आम बात है, लेकिन 2012 में स्वीडन जैसे "सभ्य" समृद्ध देश ने बलात्कार और यौन हिंसा का विश्व रिकार्ड क़ायम किया है। आबादी के हिसाब से, इस वर्ष वहाँ भारत की तुलना में तीस गुना अधिक बलात्कार हुए। जर्मनी में औसतन हर वर्ष बलात्कार और यौन हिंसा की आठ हज़ार घटनाएँ दर्ज होती हैं। ब्रिटेन इस मामले में दुनिया के शीर्षस्थ दस देशों में शामिल है। अमेरिका में हर साल लगभग तीन लाख औरतें यौन हिंसा का शिकार होती हैं।

ऊपर हमने पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली, पूँजीवादी समाज के पितृसत्तात्मक ढाँचे, स्त्री-विरोधी मूल्यों-मान्यताओं और संस्कृति के गुँथे-बुने प्रभाव की तथा नवउदारवाद के सार्वभौमिक सांस्कृतिक प्रभाव की चर्चा की है। अब राज्यसत्ता की भूमिका की चर्चा कर ली जाये। यह सोचना नितान्त भ्रमपूर्ण होगा कि यौन हिंसा की घटनाओं को पुलिस-व्यवस्था और क़ानून-व्यवस्था को चाक-चौबन्द बनाकर रोका जा सकता है। थाने में स्त्रियों के साथ बलात्कार और दुर्व्यवहार आम बात है। निचली अदालत से ऊपरी अदालतों तक के जज अपनी टिप्पणियों में प्राय: स्त्री-विरोधी पूर्वाग्रहों का ज़हर उगलते रहते हैं। अफ़सरशाही की रुग्ण यौन-विलासिताओं और सेक्स पर्यटनों के बारे में भला कौन नहीं जानता। नेताओं द्वारा बलात्कार और यौन-अपराध की जितनी घटनाएँ राजनीतिक प्रतिस्पर्द्धाओं-षड्यंत्रों के चलते रोशनी में आ जाती है, वे पूरी सच्चाई का सौवाँ हिस्सा भी नहीं होतीं। हालात का एक पहलू यह है कि भारत की अदालतों में आज एक लाख से अधिक बलात्कार के मामले लम्बित हैं। क़ानूनी प्रक्रिया का स्वरूप ऐसा है कि आँकड़ों के मुताबिक, बलात्कार के नब्बे प्रतिशत आरोपी अदालतों से बेदाग़ बरी होते रहे हैं।

पर सबसे मूल बात यह है कि राज्यसत्ता हर जगह संघर्षरत जनता का मनोबल तोड़ने के लिए बलात्कार का हथियार के रूप में इस्तेमाल करती रही है। आज़ादी के बाद से लेकर अब तक कश्मीर और उत्तर-पूर्व में सेना और अर्द्धसैनिक बलों ने स्त्रियों पर बर्बर यौन अत्याचार और बलात्कार के बाद हिंसा जैसे जघन्य अपराध जितनी बड़ी तादाद में किये हैं, वह मानवता को शर्मसार करने वाला है। 'आर्म्ड फ़ोर्सेज़ स्पेशल पावर ऐक्ट' वस्तुत: फासिस्ट सैनिक शासन का ही एक रूप है, जो मुठभेड़, नरसंहार, बलात्कार और यौन हिंसा का सैन्य बलों को लाइसेंस प्रदान करता है। कश्मीर और उत्तर-पूर्व के कई गाँवों को आज 'बलात्कार वाले गाँव' के रूप में भी जाना जाता है। बच्चियों और स्त्रियों के यौनांगों में शीशे की बोतल या प्लास्टिक के टुकड़े घुसेड़ने वाले जिन मनोरोगी बलात्कारियों की ख़बरें जिन दिनों मीडिया में आयी थीं, उनसे दन्तेवाड़ा के एस.पी. अमित गर्ग को अलग भला कैसे माना जा सकता है जिसने माओवादी होने के आरोप में गिरफ़्तार शिक्षिका सोनी सोरी के यौनांग में पत्थर भर दिये थे। आश्चर्य नहीं कि इस बर्बर मनोरोगी को राज्यसत्ता ने बहादुरी और निर्भीकतापूर्ण कर्तव्यपालन के लिए राष्ट्रपति पुरस्कार से सम्मानित किया। नरेन्द्र मोदी को हिन्दुत्व का नायक बनाने वाले गुजरात नरसंहार में सामूहिक बलात्कार और हत्या की जो बर्बर घटनाएँ अंजाम दी गयीं, उन्हें क्या कभी भुलाया जा सकेगा। सच्चाई यह है कि इतिहास की हर राज्यसत्ता से अधिक बुर्जुआ राज्यसत्ता स्त्री-विरोधी हिंसा और यौन-उत्पीड़न को दमन के हथकण्डे के रूप में इस्तेमाल करती रही है। राज्यसत्ता का चरित्र शासक वर्ग के हित और संस्कृति से भिन्न नहीं हो सकता। उत्पादन सम्बन्ध और सामाजिक ढाँचे से इतर व्यवहार की उससे अपेक्षा नहीं की जा सकती।

दिल्ली सामूहिक बलात्कार काण्ड के आरोपियों के लिए फाँसी से कम कोई सजा नहीं हो सकती थी। बल्कि जिस क़ानून के तहत सबसे बर्बर भूमिका निभाने वाला 17 वर्षीय युवक, अवयस्क होने के नाते सज़ा पाने से छूट गया, उस क़ानून की भी समीक्षा की ज़रूरत है। योजनाबद्ध तरीक़े से ऐसे बर्बर अपराध करने वालों को 'किशोर न्याय क़ानून' के दायरे से बाहर रखा जाना चाहिए। हम कतिपय मानवाधिकारकर्मियों की राय से कतई सहमत नहीं हैं जो हर मनुष्य के जीवन को क़ीमती मानने, उसके अपराधों के लिए सामाजिक परिवेश को ज़िम्मेदार मानने तथा उन्हें सुधरने का अवसर देने के तर्क के आधार पर ऐसे मामलों में भी मृत्युदण्ड का विरोध करते हैं। जो व्यक्ति विमानवीकृत होते हुए मनुष्य होने की बुनियादी शर्तों को खो चुका हो, उसके सुधरने की सम्भावना बहुत कम होती है। ऐसा व्यक्ति मौक़ा मिलते ही फिर कभी कोई घोर मानवताविरोधी कृत्य कर सकता है। अत: प्रश्न यहाँ किसी प्रकार के प्रतिशोधात्मक दण्ड का नहीं है, बल्कि, कोई जोखिम न लेते हुए, समाज के लिए खतरा बन चुके ऐसे व्यक्ति को मृत्युदण्ड ही दिया जाना चाहिए। उसी तरह, जिस तरह पागल कुत्ते को मार दिया जाता है। लेकिन सवाल यहीं समाप्त नहीं हो जाता। मूल बात यह है कि पूँजीवाद, विशेष तौर पर आज का पूँजीवाद ही ऐसे अपराधों और ऐसे अपराधियों को जन्म दे रहा है। वही पूँजीवाद जो युद्ध, भुखमरी, कुपोषण, नरसंहार, बीमारियों, दवाओं और बुनियादी ज़रूरतों के अभाव और पर्यावरण विनाश के रूप में मानवता पर लगातार कहर बरपा कर रहा है। पूँजीवाद ही इतिहास का असली अपराधी है। मुनाफ़ाख़ोरी और पूँजी संचय स्वयं में एक अपराध है जो यंत्रणा के सागरों में ऐश्वर्य के टापुओं का निर्माण करता है। अत: यदि व्यापक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखें तो इतिहास की अदालत में मृत्युदण्ड की सज़ा पूँजीवाद को सुनायी गयी है, जिसकी तामील मज़दूर वर्ग और व्यापक मेहनतकश जनता को करनी है। पूँजीवाद आज सांस्कृतिक-आत्मिक धरातल पर मनोरोग, और अपराध की संस्कृति और अपराधी ही पैदा कर सकता है।

लेकिन मानवद्रोही पूँजीवादी व्यवस्था को उखाड़ फेंकने की लड़ाई एक लम्बी लड़ाई है। तब तक स्त्रियों के विरुद्ध बढ़ती दरिन्दगी को हम बस यूँ ही चिन्ता और गुस्सा ज़ाहिर करते हुए देखते-भुगतते नहीं रह सकते।

आज मेहनतकश जनसमुदाय को अपराधियों-लम्पटों का मुक़ाबला करने के लिए स्वयं संगठित होना होगा। हमें बस्तियों में, मुहल्लों में, गाँवों में, मज़दूरों के, स्त्रियों के, नौजवानों के और जागरूक नागरिकों के चौकसी दस्ते बनाने होंगे। नशा, अपराध, और अश्लील सामग्री बेचने वालों के अड्डे को संगठित होकर तबाह करना होगा। विशेषकर स्त्रियों की संगठित शक्ति को आगे आना होगा।

पूँजीवाद नित नयी बर्बरताओं का कहर हम पर ढाता रहेगा। इसका संगठित प्रतिरोध ही बचाव का एकमात्र तात्कालिक रास्ता है।

16 दिसम्बर 2012

यह दिन याद दिलाता रहेगा
हमें उन अदृश्य बेड़ियों, यंत्रणागृहों और कब्रगाहों की
जो हर औरत की नियति है इस अँधेरे समय में।
यही दिन था
जब दिल्ली के दरिन्दों की हैवानियत की शिकार बनी
हमारी बहादुर बहन।
तेरह दिनों तक मौत से जूझने के बाद वह चिरनिद्रा में सो
गयी, देश की तमाम औरतों, तमाम इंसाफ़पसन्द नागरिकों
और युवाओं की
आत्माओं को जगाकर।
सड़कों पर बह निकला आक्रोश का दहकता लावा,
भयाक्रान्त सत्ताधारी कानून व्यवस्था दुरुस्त करने के लिए
देने लगे आश्वासन, करने लगे घोषणाएँ,
बहाते रहे घड़ियाली आँसू।
बहनो! साथियो!
इन घड़ियाली आँसुओं और सुधार की पैबन्दसाजियों से
धोखा नहीं खाना है हमें।
बेशक, यदि हम संगठित हो संघर्ष करें
तो हासिल कर सकते हैं कुछ सुरक्षा और कुछ अधिकार
इस पूँजीवादी व्यवस्था की चौहद्दी के भीतर भी।
लेकिन यदि चाहिए मर्दवादी उत्पीड़न के सभी रूपों का ख़ात्मा,
यदि चाहिए सच्चे अर्थों में समानता और न्याय
तो लड़नी होगी एक लम्बी लड़ाई
इस पूँजीवादी व्यवस्था के ख़िलाफ़ भी
तमाम शोषित-उत्पीड़ित मेहनतकश अवाम के साथ मिलकर।

रैनबैक्सी मामला कम गुणवत्ता वाली और नकली दवाओं के कारोबार की एक छोटी-सी झलक है!

डा. अमृत

भारत की दो दवा कम्पनियाँ बीते दिनों में मीडिया में चर्चा का विषय बनी रहीं। सर्वप्रथम भारतीय मूल की किन्तु अब जापानी कम्पनी के प्रबन्ध तले चल रही कम्पनी 'रैनबैक्सी' तब चर्चा में आई जब इस कम्पनी को कई करोड़ अमेरिकी डॉलरों का जुर्माना हुआ और इसके कामकाज पर कई सवाल उठे। इसके पश्चात एक अन्य बड़ी भारतीय कम्पनी 'वोकहार्ड' का मामला खड़ा हो गया। इस कम्पनी के एक प्लांट को अमेरिकी दवा कण्ट्रोल एजेंसी एफ.डी.ए. की तरफ से चेतावनी मिली और साथ ही ब्रिटेन की तरफ से इस कम्पनी के 16 उत्पादों पर गुणवत्ता की कमी को लेकर अपने देश में प्रतिबन्ध लगाने का मामला भी गरमाया रहा। इन मामलों के प्रकाश में आने पर जहाँ सरकार एवं कुछ अन्य पक्षों ने कुछ सरगर्मी दिखलाई है, वहीं इसने भारत और समस्त दुनिया में होते दवाओं के कारोबार में कम गुणवत्ता वाली और नकली दवाओं के मसले को भी छेड़ा है। कम गुणवत्ता वाली (सब-स्टैण्डर्ड) दवाएँ वह होती हैं जिनमें दवा की मात्रा निर्धारित मात्रा से कम होती है अथवा उनका रासायनिक सूत्रीकरण इस प्रकार का होता है कि उसकी शरीर के भीतर कार्य करने की क्षमता कम हो जाती है। दूसरी ओर नकली दवाएँ वह होती हैं जिनमें गोलियाँ, कैप्सूल अथवा टीकों में वास्तव में दवाई होती ही नहीं, दवाई की जगह चाक-पाउडर, पानी या महँगी दवाई के स्थान पर सस्ती दवाई का पाउडर मिला दिया जाता है। इसके अलावा समाप्त अवधि वाली (एक्सपायर्ड) दवाओं को पुन: पैक करने का धन्धा भी होता है।

'रैनबैक्सी', पहले भारतीय मूल के पूँजीपतियों के स्वामित्व वाली कम्पनी थी और 2008 में इस कम्पनी को जापानी फार्मा कम्पनी 'दायची सैंक्यो' ने खरीद लिया था। यह दुनिया की बड़ी दवा कम्पनियों में से एक है और हर वर्ष अरबों रुपये की दवाओं की बिक्री करती है। इसकी दवाओं के खरीदारों में अफ्रीका, लातिन अमेरिका के पिछड़े देशों से लेकर अमेरिका जैसे विकसित मुल्क तक सम्मिलित है। जिस मुद्दे के कारण रैनबैक्सी पिछले दिनों चर्चा में रही, वह था घटिया गुणवत्ता की दवाएँ बेचने का मामला। यह मामला 2005 में तब सामने आया जब रैनबैक्सी में काम करते हुए एक इंजीनियर ने गोपनीय रूप में कई देशों के अधिकारियों को रैनबैक्सी द्वारा की जा रही घपलेबाज़ी के सम्बन्ध में ई-मेल के माध्यम से सूचित किया। अमेरिकी दवा कण्ट्रोल एजेंसी ने इस सूचना के आधार पर छानबीन शुरू की तो बड़ा घोटाला सामने आया। रैनबैक्सी द्वारा अपनी दवाइयों की गुणवत्ता और उत्तमता दिखाने का लिए नकली टेस्ट, नकली रिकार्ड और कागज़ात पेश किये जाते थे और इनके आधार पर अपनी दवाओं को बेचने के अधिकार हासिल किये जाते थे। 2008 में रैनबैक्सी पर मुकदमे की शुरुआत हुई और अब जाकर इस कम्पनी को 50 करोड़ डॉलर का जुर्माना हुआ है जो कि किसी जेनेरिक दवाएँ बनाने वाली कम्पनी को अब तक का सबसे बड़ा जुर्माना है। देखने में प्रतीत होता है कि आखिर इंसाफ हुआ! मगर अन्दर की कहानी कहीं अधिक पेचीदा है।

जाली टेस्ट करने और जाली रिकार्ड पेश करने के पीछे असल में मुनाफे की अन्धी दौड़ है जिसमें जीतने के लिए पूँजीपति किसी भी हद तक जा सकता है, कानून और मानवता मुनाफे के समक्ष कहीं नहीं टिकते। अमेरिका में किसी दवाई का जेनेरिक उत्पाद बेचने के लिए उस दवाई का पेटेंट रखने वाली कम्पनी को अमेरिकी दवा कंट्रोल एजेंसी की शर्तें पूरी करना अनिवार्य है, और जो कम्पनी सबसे पहले यह कर दिखाती है उसको अमेरिकी दवा बाज़ार में पहले छह महीने तक अपना जेनेरिक उत्पाद बेचने का एकाधिकार मिल जाता है। जेनेरिक उत्पाद का एकाधिकार होने के कारण कम्पनियाँ अपने उत्पाद की कीमत अक्सर पेटेंट ब्रांड की कीमत से थोड़ा ही कम यानी कीमत का 80 प्रतिशत तक रखकर मोटा मुनाफा कमाती हैं। छह महीने का एकाधिकार हासिल करने के लिए कम्पनियों में अन्धी दौड़ लगी रहती है क्योंकि छह महीने का समय बीतने के बाद जब दूसरी कम्पनियों के उत्पाद मंडी में पहुँच जाते हैं तो जेनेरिक उत्पादों की कीमत पेटेंट ब्रांड की कीमत का 5-10 प्रतिशत रह जाती है, नतीजतन मुनाफा भी हो कम जाता है। रैनबैक्सी छह महीने का एकाधिकार हासिल करने में 'स्पेशलिस्ट' हो गयी थी और उसने यह 'विशेषज्ञता' हासिल की अपनी कम गुणवत्ता की दवाओं को नकली टेस्ट और नकली रिकार्डों के द्वारा उत्तम गुणवत्ता की दवाओं के तौर पर पेश करके। केवल एक दवाई के लिए छह महीने का एकाधिकार हासिल करके रैनबैक्सी 50 करोड़ अमरीकी डॉलर से ज़्यादा की कमाई कर लेती है, और यह केवल अमेरिकी मण्डी में बिक्री करके ही। अमेरिका में अनुमति मिलने के आधार पर उसने अन्य देशों में कितनी कमाई की होगी, यह अलग है। पूरे सबूत सामने आने पर रैनबैक्सी ने घपलेबाज़ी कबूल कर ली और 50 करोड़ डॉलर जुर्माना अदा करना स्वीकार किया, किन्तु इससे रैनबैक्सी को कोई विशेष फर्क नहीं पड़ेगा चूंकि वह इससे कई गुना अधिक की कमाई पहले ही कर चुकी है। दूसरी बात, इस निर्णय में रैनबैक्सी के किसी भी मालिक अथवा प्रबन्धक को अपराधी या ज़िम्मेदार नहीं ठहराया गया और उनके ख़िलाफ़ कोई भी कार्रवाई नहीं हुई है, जैसे यह धूर्तता कम्पनी की मशीनों ने की हो! ऊपर से सितम यह कि अमरीकी दवा एजेंसी रैनबैक्सी की जाँच-पड़ताल भी करती रही और इस दौरान रैनबैक्सी को उसके उत्पादों की बिक्री के अधिकार भी प्रदान करती रही! भारत सरकार इससे भी आगे है! रैनबैक्सी के खिलाफ जाँच शुरू करने की बजाय सरकार कम्पनी के बचाव में उतर आयी है और सरकार के मंत्री सीना ठोक कर बयान दे रहे हैं कि रैनबैक्सी की दवाएँ और भारत में बनने वाली सम्पूर्ण दवाएँ श्रेष्ठ गुणवता की हैं। असल में सरकार को कम्पनियों के मुनाफे की ज़्यादा फिक्र है और आम लोगों की कम। रैनबैक्सी मामला सामने आने पर भारतीय कम्पनियों के उत्पाद संदिग्धता के दायरे में आने से इनकी माँग घटने का ख़तरा है, इसलिए कम्पनियों के 'बिज़नेस' को किसी सम्भावित नुकसान से बचाने के लिए भारत सरकार यह घटिया खेल खेल रही है।

रैनबैक्सी का मामला कोई इक्का दुक्का मामला नहीं है। यह तो "जो पकड़ा गया, वह चोर अन्य दूध धुले" वाली बात है, यदि कोई गम्भीर जाँच-पड़ताल आरम्भ की जाये तो और बहुत कुछ सामने आने की सम्भावना है। गत एक वर्ष की कुछ घटनाएँ ही इस मानवता विरोधी कारोबार की सीमा बता देती हैं। अफ्रीकी देश नाईजीरिया इस महाद्वीप के अन्दर दवाओं की सबसे बड़ी मण्डी के तौर पर उभरा है। इसी वर्ष जून के महीने "मेड इन इंडिया" के ठप्पे वाली एंटीबायोटिक दवाओं की एक खेप वहाँ के अधिकारियों ने ज़ब्त की जिसमे "दवाई" थी ही नहीं। इसी तरह पिछले साल भी मलेरिया के इलाज में इस्तेमाल होने वाली दवाओं की बड़ी खेप की जिसमे "दवाई" थी ही नहीं, नाईजीरिया में स्पीकरों में पैक कर तस्करी होती हुई पकड़ी गयी थी जिस पर भी "मेड इन इंडिया" का ठप्पा लगा हुआ था। सर्वेक्षणों के अनुसार भारत में भी मलेरिया के इलाज में इस्तेमाल होने वाली दवाओं में 7 प्रतिशत से ऊपर नकली हैं। गत वर्ष, श्रीलंका ने भी भारत से दवाएँ प्राप्त करने पर कुछ प्रतिबन्ध लगाये हैं क्योंकि कई खेपों में ऐसी दवाएँ पकड़ी गयीं जिनमे "दवाई" थी ही नहीं। ऐसा नहीं है कि कम गुणवत्ता वाली और नकली दवाओं का मामला भारत तक ही सीमित है। वर्ष 2012 में, लाहौर (पाकिस्तान) में हृदय रोगों की राष्ट्रीय संस्था में नकली दवाओं का मामला उस समय प्रकाश में आया जब वहां इलाज करवा रहे 100 से अधिक मरीजों की अचानक मृत्यु हो गयी। जाँच में सामने आया कि इस संस्था में इलाज के लिए इस्तेमाल होने वाली कुछ दवाएँ नकली हैं और कुछ दवाओं में पत्ते के ऊपर लिखी दवा की जगह कुछ और ही दवाएं हैं। गत 3-4 वर्ष के भीतर अमेरिका, ब्रिटेन, चीन एवं अन्य अफ्रीकी देश जैसे तंजानिया में कम गुणवत्ता की या नकली दवाओं के मामले तथा इन दवाओं के कारण लोगों की मृत्यु के विभिन्न मामले समक्ष आये हैं।

विश्व स्वास्थ्य संगठन के अनुसार दुनिया भर में घटिया या नकली दवाओं का कारोबार 2010 में 75 अरब अमेरिकी डॉलर था जो 2005 के मुकाबले दोगुना था। कुछ अन्य स्रोतों के अनुसार, यह कारोबार अब 200 अरब डॉलर सालाना तक पहुँच चुका है। विश्व स्वास्थ्य संगठन के अनुसार दुनिया भर में कुल बिक रही दवाओं का 10 प्रतिशत से अधिक नकली या घटिया दवाओं का है, विकासशील देशों में चूँकि दवाओं की गुणवत्ता नियंत्रण हेतु प्रशासनिक और कानूनी प्रबन्ध या तो है ही नहीं या बहुत ही कमज़ोर होते हैं (भारत भी इन्ही देशों में आता है), यह बढ़कर 25 प्रतिशत तक पहुँच जाता है और बहुत ही पिछड़े हुए देशों में जिनमे अफ्रीकी देश शामिल हैं, यह हिस्सा भयानक हद तक बढ़कर 50 प्रतिशत तक पहुँच जाता है। भारत में हुए विभिन्न सर्वेक्षणों के अनुसार 12-25 प्रतिशत दवाइयाँ या तो नकली हैं या कम गुणवत्ता वाली हैं। मगर भारत के सरकारी आंकड़े देखिये!! भारत की दवा नियंत्रण संस्था के अनुसार नकली दवाओं का प्रतिशत मात्र 0.4 प्रतिशत है, आश्चर्य की बात यह है कि अमेरिका और यूरोप भी अपने देशों में नकली दवाओं का हिस्सा 1 प्रतिशत से अधिक मानते हैं। वास्तव में भारतीय सरकार अपने पूँजीपतियों की "रैपुटेशन" खराब नहीं होने देना चाहती,

अब इस "बिज़नेस" की मानवीय कीमत भी देखते हैं ताकि समस्या की गम्भीरता और अधिक साफ हो सके। विश्व स्वास्थ्य संगठन के अनुसार हर साल 2,00,000 मौतें नकली या घटिया दवाओं के कारण होती हैं। इस आँकड़े में केवल मलेरिया और टी. बी. रोगों से पीड़ित उन मरीजों की मौतें ही शामिल हैं जिनकी मौत का कारण नकली या घटिया दवाएँ माना जा सकता है। मगर एक अध्ययन ने दिखाया है कि यह आँकड़ा भी ऐसी मौतों को बहुत कम करके देखता है। इस अध्ययन के लेखकों ने दिखाया है कि अकेले मलेरिया और टी. बी. के मामले में ही नकली या घटिया दवाओं के कारण होने वाली मृत्यु की संख्या 7,00,000 है और भी दु:ख की बात यह है कि दुनिया भर में मलेरिया के कारण हर साल कुल 10 लाख लोगों की मृत्यु होती है जिसमें से 4.5 लाख घटिया या कम गुणवत्ता वाली दवाओं के कारण होती है। इस आंकड़े से ही अन्दाज़ा लगाया जा सकता है कि अगर सब रोगों के लिए मौत का आँकड़ा लिया जाये तो नकली या घटिया दवाओं के कारण मरने वालों की संख्या कितनी हो सकती है।

नकली या घटिया दवाओं के कारण होने वाली मृत्यु के कई कारण गिनाये जा सकते हैं। सर्वप्रथम तो मरने वालों को दवाई के नाम पर "दवाई" मिली ही नहीं होती क्योंकि जो गोली या कैप्सूल वह खा रहे होते हैं उसमे दवाई होती ही नहीं। दूसरी बात, गोली या कैप्सूल में दवाई की मात्रा पत्ते पर उल्लिखित मात्रा से बेहद कम होती है नतीजतन वह दवाई रोग को ठीक करने में कारगर नहीं रहती। तीसरा, पत्ते पर उल्लिखित दवाई की बजाये अन्य दवाई होने के कारण जो बुरे प्रभाव सामने आते हैं, वह भी मृत्यु की वजह बनते हैं। चौथा कारण भी एक विशेष कारण है चूंकि यह निकट भविष्य में मानवजाति तथा चिकित्सा विज्ञान के समक्ष एक बड़ी चुनौती बन सकता है, विशेषतया बैक्टीरिया आदि के कारण होने वाले संक्रामक रोगों के मामले में। बैक्टीरिया निरन्तर किसी दवाई के सम्पर्क में आने के कारण उस दवाई के खिलाफ सुरक्षा कवच विकसित कर लेते हैं और समय के साथ वह दवाई उस बैक्टीरिया को मारने या काबू करने में असमर्थ हो जाती है। यह वाकया तब अधिक तीव्रता से घटित होता है जब दवाई की निश्चित मात्रा से कम मात्रा इस्तेमाल की जाती है। वास्तव में कम मात्रा में एंटीबायोटिक दवाओं

(पेज 3 पर जारी)

नमक की दलदलों में

"नमक बनाने की जगह (नमकसार) जाओ, दोस्त। वहाँ हमेशा काम की भरमार रहती है। हर समय और हर घड़ी, जब भी जाओ, काम मिल ही जायेगा। असल में वह काम इतना बेहूदा और जानलेवा है कि अधिक दिनों तक वहाँ कोई चिपका नहीं रह सकता। सब भाग जाते हैं। बर्दाश्त नहीं कर पाते। सो वहाँ जाओ और दो-चार दिन काम करके देखो। प्रति ठेला एक कोपेक मिलती है। इतने में एक दिन का खर्च मज़े में चल जायेगा।"

यह सलाह देने के बाद उसने – वह एक मछुआरा था – ज़मीन पर थूका, सर उठाकर फिर समुद्र के उस पार क्षितिज की ओर देखा और मन ही मन किसी उदास गीत की धुन गुनगुनाने लगा। मैं उसकी बगल में मछियारों के बाड़े की छाँव में बैठा था। वह अपनी कनवास की पतलून की मरम्मत कर रहा था। रह-रहकर वह जम्हाई लेता और काफी काम न मिलने तथा काम की खोज में दुनिया की धूल छानने के बारे में निराशा भरी बातें बुदबुदाता जाता।

''जब देखो कि अब नहीं सहा जाता तो यहाँ चले आना और आराम करना। बोलो क्या कहते हो? जगह ज्यादा दूर नहीं है-यहाँ से तीन मील दूर होगी। ऊंह, कितना अटपटा है हमारा जीवन।"

मैंने उससे विदा ली, सलाह के लिए उसे धन्यवाद दिया और समुद्र के किनारे-किनारे साल्ट मार्श के लिए चल दिया। अगस्त मास की गर्म सुबह थी। आकाश उजला और साफ़ था और समुद्र शांत और सौम्य। हरी लहरें, एक दुसरे का पीछा करतीं, तट की बालू पर दौड़ रही थीं। उनकी हलकी छलछलाहट उदासी भरी थी। सामने, खूब दूर, नीली धुंध के बीच, तट की पीली बालू के ऊपर सफ़ेद पैबंद नज़र आ रहे थे। वह ओचोकोव नगर था। मछियारों के बाड़े को, जो पीछे रह गया था, समुद्र की नीली-हरी आभा से रेंज रेट के उजले पीले टीलों ने निगल लिया था।

बाड़े में, जहाँ मैंने रात बिताई थी, दुनिया भर की ऐसी-ऐसी होनी-अनहोनी बातें और कहानिया मैंने सुनी थीं की मेरा जी भारी हो गया था। लहरों की ध्वनि भी जैसे मेरे इस भारीपन का साथ दे रही थी और उसे और भी घना बना रही थी।

नमकसार शीघ्र ही दिखाई देने लगा। करीब चार-चार सौ वर्गमीटर के तीन प्लाट थे। नीची मेढें और संकरी खाइयाँ उन्हें एक-दुसरे से अलग कर रही थीं। ये तीनो प्लाट नमक निकालने की तीन मंजिलों के सूचक थे। पहला प्लाट समुद्र के पानी से भरा था। इस पानी को भाप बनकर उड़ जाने पर गुलाबी झलक लिए पीले-भूरे नमक की पतली तह रह जाती थी। दुसरे प्लाट में नमक के दूह जमा किये जाते थे। हाथों में फावड़े लिए स्त्रियाँ, जिनके जिम्मे यह काम था, घुटनों तक काली चमचमाती दलदल में खड़ी थीं। वे आपस में न तो बतिया रही थी, न ही एक दुसरे को पुकार रही थी। केवल उनकी उदास मटमैली आकृतियाँ इस घनी, लोनी और घाव कर देने वाली कास्टिक 'रापा' की पृष्ठभूमि में - लोगों ने इस दलदल का यही नाम रख छोड़ा था - खोयी सी मुद्रा में हरकत करती नज़र आ रही थीं। तीसरे प्लाट से नमक हटाया जा रहा था। अपने हथ ठेलों पर झुके, मूक और निश्चेत, मज़दूर कसमसा रहे थे। हथ ठेलों के पहिये रगड़ खाते और चीं-चर्र करते और ऐसा मालूम होता जैसे यह आवाज़ नंगी मानवीय पीठों की लम्बी पांत द्वारा ईश्वर के दरबार में भेजी गयी एक शोकपूर्ण अपील हो।

और ईश्वर था कि वह धरती पर असहन गर्मी उड़ेल रहा था जिसने लोनी दलदली घासों और नमक के कणों से युक्त पपड़ी-जमी धरती को झुलसा दिया था। हथ ठेलों की एकरस चरमर को वेदकर फोरमेन की गहरी आवाज़ सुनाई दे रही थी। वह मज़दूरों पर गालियों की बौछार कर रहा था। मज़दूर आते और अपने ठेलों को उसके पाँव के पास उड़ेलकर खाली कर देते। वह एक डोल में से नमक के ढेर पर पानी डालता और इसके बाद उसे एक पिरामिड के आकार में जमा देता। वह एक लम्बा आदमी था, अफ्रीका के लोगों की भांति काला और नीली तथा सफ़ेद पतलून पहने हुए। उस जगह, जहाँ नमक के ढेर पर खड़ा वह अपने हाथ के बेलचे को हवा में हिल रहा था, ठेला मज़दूरों पर वह बराबर चीख रहा था। तख्तों के ऊपर से वे ठेले खींचकर लाते और वह वहीँ से चीख उठता-

''ऐ, इसे बायीं ओर खाली करना! बायीं ओर, भालू के बच्चे, बायीं ओर! चमड़ी उधेड़कर रख दूंगा! क्यों क्या अपने दीदे फुडवाने के जी में है? उधर कहाँ जा रहा है, बिच्छु?"

कुत्सा से भरा कमीज के एक छोर से वह अपने चेहरे का पसीना पोंछता, कांखता ओर, गालियों की बौछार को एक मिनट भी रोके बिना, नमक की सतह को समतल बनाने में जुट जाता। पीठ की ओर से बेलचे को वह उठता और पूरा जोर लगाकर नमक पर उसे दे मारता। मज़दूर यंत्रवत अपने ठेलों को खींचकर लाते उसके फरमान के मुताबिक- दाहिनी या बायीं ओर - यंत्रवत उन्हें खाली कर देते। इसके बाद, खींच-तानकर, वे अपनी कमर सीधी करते और अगला बोझ लाने के लिए वापस लौट पड़ते। ड़गमगाते ड़गों से अपने ठेलों को खींचते हुए वे लोटते, घनी काली दलदल में आधे धंसे तख्ते उनके पांवों के नीचे डगमगाने लगते। उनके ठेले अब पहले से कम लेकिन अधिक उबा देने वाली आवाज़ करते।

''क्या टाँगे टूट गयीं हैं, हरामी पिल्लों?" फोरमैन उनके पीछे चिल्लाता-''तेजी दिखाओ, तेजी!"

वे उसी दब्बू ख़ामोशी से काम में जूटे रहते, लेकिन कभी-कभी धूल और पसीने से चिपचिपाते उनके नि:सत्व चेहरे भीतर ही भीतर गुस्से और असंतोष से बल खाने लगते। अक्सर ऐसा होता की एक ठेला तख्तों पर से फिसलकर दलदल में फंस जाता, आगे वाले ठेले बढ़ जाते, पीछे वाले बढ़ नहीं पाते और मैले-कुचले तथा गंदे तलछटी मज़दूर अपने ठेलों को थामे, पथराई सी आँखों से अपने उस साथी की ओर देखने लगते। ऐसे देखते मानो उनका उससे कोई वास्ता न हो। भारी-भारी ठेले को - छ: सात मन पक्के वजन को - उठाने और फिर उसे तख्तों पर रखने में उसकी एड़ी-चोटी का पसीना एक हो जाता और वे वैसे ही उदास भाव में उसे ताकते रहते। आकाश में बादलों की परछाई तक नहीं थी। सूरज आग बरसा रहा था। तपन बढती ही जाती थी। ऐसा मालूम होता था मानो सूरज ने, अपने आपको न्योछावर तथा धरती के साथ अपना गहरा लगाव सिद्ध करने के लिए, खास तौर से आज का ही दिन चुना हो। .....

गोर्की की कहानी आगे बढती है, नमकसार के मज़दूर अपनी नीरस बोझिल ज़िंदगी में थोड़ा मज़ा करने के लिए गोर्की को परेशान करते हैं। पहले ही काम के बोझ को झेल रहे गोर्की को एक मज़दूर जानबूझकर ऐसा ठेला देता है जिसके हत्थों से गोर्की की हथेली की खाल छिल जाती है। गोर्की पीड़ा और बदले से चिल्ला उठते हैं। परन्तु उनके सवालों का कोई जवाब नहीं देता है। जब गोर्की काम की उदासीनता और अमानवीयता से तंग आकर जाने लगते हैं तो एक मज़दूर मात्वेयी उन्हें कुछ सिक्के लेने के लिए समझाते हुए कहता है- ''बात मानो हमें अपमानित न करो। हम वास्तव में इतने बुरे नहीं है। हम जानते हैं कि हमने तुम्हारी भावनाओ को चोट पहुँचाई, लेकिन अगर तुम जरा सोचकर देखो तो इसके लिए क्या हम सचमुच दोषी हैं? नहीं हम दोषी नहीं हैं। इसके लिए जीवन का वह ढंग जिम्मेदार है जो कि हमें बिताना पड़ता है। कुत्ते का जीवन। छ: सात मनिया ठेले, पांवों को चाट जाने वाली 'रापा' दलदल, दिन भर पीठ की चमड़ी झुलसाने वाली धूप, और पचास कोपेक प्रति दिन। यह हर आदमी को जानवर बना देने के लिए काफी है। काम, काम, काम पगार ठर्रे में उडा दो और फिर काम में जुट जाओ। आदि भी यही और अंत भी यही। पांच साल तक ऐसा जीवन बिताओ और फिर देखो - कुछ भी मानवीय नहीं रहेगा, निरे जानवर तुम हो जाओगे - और बस। सुनो, साथी, तुम्हारे साथ तो हमने कुछ भी नहीं किया, जो कि हम एक-दुसरे के साथ करते हैं, बावजूद इसके कि हम- जैसे कि कहा जाता है पुराने यार हैं और तुम एकदम नए आये हो। तुममे क्या सुरखाब के पर लगे हैं, जो तुम्हारे साथ हम रियायत करते? समझ गये न? तुमने जो बातें हमें कहीं- हाँ। तो क्या हम अचार डालें उनका? यों तुमने जो कहा, ठीक कहा, -वह सब सच है - लेकिन वह हम पर फिट नहीं बैठता। तुम्हें इतना बुरा नहीं मानना चाहिए। हम तो केवल मज़ाक कर रहे थे। आखिर हमारे पास भी तो दिल है। लेकिन अच्छा यही है तुम गोल हो जाओ। तुम्हारा रास्ता और है, हमारा और। हमारी छोटी-भेंट संभालो और विदा हो जाओ। हमने तुम्हारा साथ कोई अन्याय नहीं किया, न ही तुमने हमारे साथ कोई अन्याय किया। यह सच है कि मामला कुछ गड़बड़ा गया, लेकिन इसके सिवा तुम और क्या आशा करते थे। यहाँ एक भी चीज़ हमारे हक में कभी भी सीधी नहीं बैठती। और तुम्हारे यहाँ बने रहने में कोई तुक भी नहीं है। असल बात यह है कि तुम यहाँ फिट नहीं करते। हम एक दुसरे के आदि हो गए हैं। और तुम -तुम हमारी जात के नहीं हो। यहाँ रहने से कुछ भला नहीं होगा। सो तुम रास्ता

(पेज 15 पर जारी)

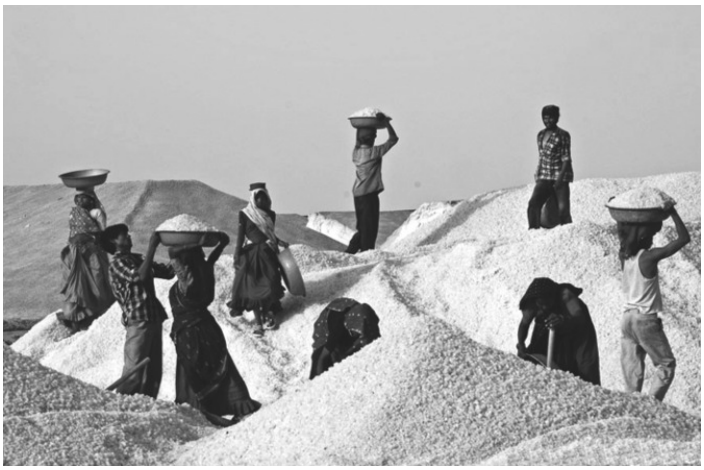

(पेज 14 से आगे)

नापो। तुम अपनी राह जाओ। अच्छा तो विदा!"

गोर्की इस नमकसार को छोड़कर आगे बढ़ते हैं और वापस अपने मछियारे दोस्त के वापस आ जाते हैं। यह आत्म कथा आज से 120 साल पहले 1893 में लिखी गयी थी परन्तु गुजरात में कच्छ की रण के मज़दूरों की ज़िन्दगी गोर्की की कहानी का जीता-जागता बयान लगती है। वही खतरनाक दलदल नुमा खेत, झुलसाने वाली धूप, मज़दूरों का गुलामो जैसा शोषण अभी भी मौजूद है। यह कच्छ के करीब 1,40,000 मज़दूरों की कहानी है। इनकी ज़िन्दगी का हमारा विवरण गोर्की की कहानी में उभारे चित्र जैसे रंग न ला पाए पर यहाँ भी उतना ही दु:ख और उतनी ही अमानवीयता मौजूद है। मुनाफे की हवस में पगलाए ठेकेदारों और मालिकों की जेबे भरते अगरिया (जाति) मज़दूर नमक की दलदलों में अपनी हड्डियाँ गला रहे हैं। गुजरात में भारत के कुल नमक उत्पादन का 75 प्रतिशत नमक उत्पादन होता है और सिर्फ कच्छ के रन में ही गुजरात का 60 प्रतिशत नमक पैदा होता है। कच्छ की रण में एक जगह ही 7 नदियाँ एक जगह मिलती है। और समुद्र का पानी खाड़ी से इन नदियों में मिलता है। भूजल में नमक की भारी मात्रा के कारण पम्प या कुएं से नमकीन पानी पहले बाहर निकाला जाता है। इस पानी को पहले से तैयार किये गए खेत में डाल दिया जाता है, यहाँ आम तौर पर मज़दूर कई खेत तैयार करते हैं, जिसमे से एक एक करके नमक सुखाया जाता है और अधिक शुद्ध नमक मिल जाता है। बच्चों से लेकर औरतें तक इस काम में ही जुटे रहते हैं। नमक की दलदलो में 50 डिग्री तापमान में झुलसाती हुयी धूप में मज़दूर घंटो काम करते हैं। काम के आदिम रूप की कल्पना इस से ही की जा सकती है कि एक परिवार को दुसरे परिवार को सन्देश देने के लिए शीशे (रोशनी से) का इस्तेमाल करना पड़ता है। नमक की दलदल नुमा खेत मज़दूरों के तलवों, एडियो, और हथेलियों को छिल देते हैं जिससे नमक मांस में और खून में मिल जाता है। जो नमक मज़दूर अपनी मेहनत से पैदा करते हैं वही उनकी ज़िन्दगी का सबसे बड़ा अभिशाप बन जाता है। अगरिया मज़दूरों में कहावत है कि उनकी मौत तीन तरह यानी गार्गरिन, टीबी या अंधेपन (नमक के कारण) से होती है। कई मज़दूर कैंसर या ब्लड प्रेशर की बीमारी से मर जाते हैं। कई अगरिया मज़दूर जवानी में मर जाते हैं- कच्छ के खरघोडा गाँव की 12000 की आबादी में 500 विधवाएं हैं! नमक के खेतों से मज़दूरों को पीने का पानी लेने के लिए 15-20 किलोमीटर साईकिल चला कर जाना पड़ता है। मौत के बाद भी यह नमक मज़दूरों का पीछा नहीं छोडता है क्योंकि हाथ और पैरों में घूस जाने के कारण मज़दूरों के अंतिम संस्कार के दौरान उनके हाथ और पैर नहीं जलते हैं। इन्हें नमक की ज़मीन में ही दफ़न किया जाता है। इनको इतनी कम मज़दूरी मिलती है कि ये हमेशा ही ठेकेदारों से उधार लेकर जीते हैं और हमेशा उनके कर्ज के जाल में फंसे रहते हैं। इलाके में 3 रूपए किलो में बिकने वाले नमक को ठेकेदार मज़दूरों से सिर्फ 15 पैसे प्रति किलो की मज़दूरी पर खेती करवाते हैं। गुजरात देश का सबसे बड़ा दुग्ध उत्पादक प्रदेश है परन्तु अगरिया मज़दूरों के बच्चो को दूध भी नसीब नहीं होता है। गुजरात के मज़दूरों की ज़िन्दगी को नमक के खेतो में दफ़न कर या फ़ैक्टरियों में झोंककर गुजरात का विकास (पूँजीपतियों का विकास) किया जा रहा है।

– सनी

शासन करने की कठिनाई

– बेर्टोल्ट ब्रेष्ट

1.
मंत्रीगण हरदम कहते रहते हैं जनता से
कि कितना कठिन होता है शासन करना।
बिना मंत्रियों के
फसल ज़मीन में ही धँस जाती, बजाय ऊपर आने के।
न ही एक टुकड़ा कोयला बाहर निकल पाता खदान से
अगर चांसलर इतना बुद्धिमान नहीं होता।
प्रचारमंत्री के बगैर
कोई लड़की कभी राज़ी ही न होती गर्भधारण के लिए।
युद्धमंत्री के बिना
कभी कोई युद्ध ही न होता।
और कि सचमुम सूरज उगेगा भोर में
बिना फ़्यूहरर की आज्ञा के
इसमें बहुत सन्देह है,
और अगर यह उगा भी तो,
गलत जगह ही होगा।

2.
ठीक उतना ही कठिन है, ऐसा वे हमें बताते हैं
चलाना एक फैक्टरी को।
बिना उसके मालिक के
दीवारें ढह पड़ेंगी और मशीनों में ज़ंग लग जायेगी,
ऐसा वे कहते हैं।
भले ही एक हल बना लिया जाये कहीं पर
यह कभी नहीं पहुँचेगा खेत तक
बिना उन धूर्तता भरे शब्दों के
जिन्हें फैक्टरी मालिक लिखता है किसानों के लिए:
कौन उन्हें बतायेगा उनके सिवा कि हल मौजूद हैं?
और क्या होगा जागीर का अगर ज़मींदार न हों?
निश्चय ही वे बो देंगे राई जहाँ बोना था आलू?

3.
अगर शासन करना सरल होता
तो कोई ज़रूरत न होती फ़्यूहरर जैसे अन्त:प्रेरित
दिमाग़ वालों की।
अगर मज़दूर जानते कि कैसे चलायी जाती है मशीन
और
किसान जोत-बो लेते अपने खेत घर बैठे ही
तो ज़रूरत ही न होती किसी फैक्ट्री मालिक या ज़मींदार की
यह तो सिर्फ़ इसीलिए है कि वे सब हैं ही इतने जाहिल
कि ज़रूरत होती है इन थोड़े-से समझदार लोगों की।

4.
या फिर ऐसा भी तो हो सकता है
कि शासन करना इतना कठिन है ही इसीलिए
कि ठगी और शोषण के लिए ज़रूरी है
कुछ सीखना-समझना।

अनुवाद: विश्वनाथ मिश्र

(दायित्वबोध, अगस्त-सितम्बर 1997 से साभार)

तो फिर जनता का साहित्य क्या है? जनता के साहित्य से अर्थ है ऐसा साहित्य जो जनता के जीवन-मूल्यों को, जनता के जीवनादर्शों को, प्रतिष्ठापित करता हो, उसे अपने मुक्तिपथ पर अग्रसर करता हो। इस मुक्तिपथ का अर्थ राजनैतिक मुक्ति से लगाकर अज्ञान से मुक्ति तक है। अत: इसमें प्रत्येक प्रकार का साहित्य सम्मिलित है, बशर्ते कि वह सचमुच उसे मुक्तिपथ पर अग्रसर करे। ... जनता के मानसिक परिष्कार, उसके आदर्श मनोरंजन से लगाकर क्रान्तिपथ पर मोड़ने वाला साहित्य, मन को मानवीय और जन को जन-जन करने वाला साहित्य, शोषण और सत्ता के घमण्ड को चूर करने वाले स्वातंत्र्य और मुक्ति के गीतों वाला साहित्य, प्राकृतिक शोभा और स्नेह के सुकुमार दृश्यों वाला साहित्य – सभी प्रकार का साहित्य सम्मिलित है बशर्ते कि वह मन को मानवीय, जन को जन-जन बना सके और जनता को मुक्तिपथ पर अग्रसर कर सके।

–गजानन माधव मुक्तिबोध

(जनता का साहित्य किसे कहते हैं?)

डाक पंजीयन: SSP/LW/NP-319/2011-2013
प्रेषित डाकघर: आर.एम.एस. चारबाग, लखनऊ
प्रेषित तिथि: दिनांक 20 प्रत्येक माह

दिल्ली सामूहिक बलात्कार काण्ड के चार आरोपियों को मृत्युदण्ड

पर सवाल अब भी बाकी है : क्यों बढ़ रहे हैं ऐसे जघन्य अपराध और प्रतिरोध का रास्ता क्या है?

● कात्यायनी

दिल्ली सामूहिक बलात्कार काण्ड (दिसम्बर 2012) के चार आरोपियों को अन्ततः निचली अदालत ने फाँसी की सज़ा सुना दी। एक अन्य आरोपी, बालिग न होने के कारण, पहले ही बाल सुधार गृह भेजा जा चुका था। छठे अभियुक्त रामसिंह ने जेल में आत्महत्या कर ली थी।

लेकिन गम्भीर सोच-विचार के लिए यह अहम प्रश्न अभी भी हमारे सामने मौजूद है कि आखिरकार हमारे देश में ऐसे बर्बर बलात्कार-हत्याओं (जिनकी शिकार आज बड़े पैमाने पर छोटी-छोटी बच्चियाँ भी हो रही हैं), यौन अत्याचारों और लड़कियों पर तेज़ाब फेंकने जैसी घटनाओं की संख्या लगातार बढ़ती क्यों जा रही है? जो घटनाएँ संज्ञान में आती हैं उनके हिसाब से भारत में प्रति 22 मिनट में एक बलात्कार होता है जबकि सांसदों की एक कमेटी में प्रस्तुत रिपोर्ट के अनुसार, वास्तविक संख्या इससे लगभग तीस गुनी अधिक है।

अगर हम समझते हैं कि सख्त से सख्त क़ानून बनाकर और पुलिस व्यवस्था को चाक-चौबन्द बनाकर इस समस्या को हल किया जा सकता है तो यह महज एक ख़ामख़्याली ही है। स्त्री-उत्पीड़न की लगातार बढ़ती बर्बरता और बढ़ती संख्या के बुनियादी कारणों को समझने के लिए हमें पितृसत्ता, पूँजीवादी राज्यसत्ता, पूँजीवादी उत्पादन-प्रणाली और यौनाचारवादी पतनशील पूँजीवादी संस्कृति के आपसी सहमेल से बने उस बर्बर परिदृश्य को समझना होगा, जिसमें स्त्रियों के आखेट का खेल लगातार जारी रहता है और हिंस्र से हिंस्र होता चला जाता है।

यह सहस्राब्दियों पुरानी बात है जब पितृसत्ता और एकनिष्ठ वैवाहिक सम्बन्धों की स्थापना के साथ ही (यह एकनिष्ठता का नियम हमेशा से वस्तुतः स्त्री पर ही लागू होता रहा है) स्त्रियाँ सार्वजनिक उत्पादन के क्षेत्र से बहिष्कृत होकर चूल्हे-चौकठ की गुलाम बनकर रह गयीं। पूँजीवाद ने औरतों के लिए सार्वजनिक उत्पादन के दरवाज़े काफ़ी हद तक खोल दिये, पर उसकी घरेलू दासता और पुरुष-पराधीनता को समाप्त नहीं किया। एक आर्थिक रूप से स्वावलम्बी औरत भी परिवार की निजी सेवा और घरेलू गुलामी के अपने कर्तव्य को पूरा किये बिना सार्वजनिक उत्पादन के कामों में हिस्सा नहीं ले सकती (चाहे वह मज़दूर हो या मध्यवर्गीय स्त्री), पुरुषों की स्वीकृति के बिना वह अपने निजी और सामाजिक निर्णय नहीं ले सकती, सार्वजनिक जगहों पर यौन-वस्तु के रूप में देखे-बरते जाने के लिए वह अभिशप्त होती है, और सबसे अहम बात यह है कि श्रम बाज़ार में भी उसकी श्रमशक्ति सबसे सस्ती होती है, श्रम क़ानून उसके लिए सबसे अधिक निष्प्रभावी होते हैं, सबसे कठिन स्थितियों में उसे काम करना होता है, यानी कुल मिलाकर, वह निकृष्टतम कोटि की उजरती गुलाम होती है। पूँजीवादी जनवादी गणतंत्र ने स्त्री-पुरुष के बीच जो क़ानूनी समानता क़ायम की, उसका एक ऐतिहासिक महत्व ज़रूर था। उसने यह साफ़ कर दिया कि स्त्रियों की मुक्ति की पहली शर्त यह है कि स्त्री-पुरुष सार्वजनिक उत्पादन में (और अन्य सामाजिक गतिविधियों में भी) समान हैसियत से हिस्सा लें तथा समाज की आर्थिक इकाई होने का एकल परिवार का गुण नष्ट कर दिया जाये। यह तभी हो सकता है जब उत्पादन के साधनों पर सामाजिक स्वामित्व हो, उत्पादन मुनाफ़े के लिए नहीं बल्कि सामाजिक उपयोगिता की दृष्टि से हो तथा निजी स्वामित्व के ख़ात्मे की दिशा में समाज तेजी से क़दम आगे बढ़ाये। घरेलू कामों के स्त्रीलिंगीकरण को लेकर पूँजीवाद का रवैया अन्तर्निहित तौर पर अन्तरविरोधी होता है। एक ओर, वह स्त्री-पुरुष-बच्चे – सभी को उत्पादन प्रक्रिया में खींच लाता है, दूसरी ओर, श्रमशक्ति के उत्पादन-पुनरुत्पादन के स्थल – परिवार के सभी कामों को पूर्ववत स्त्रियों पर डाले रहता है। इसके चलते, उसे स्त्रियों की आरक्षित श्रमशक्ति सस्ती से सस्ती दरों पर मिल जाती है। साथ ही वह पुरुष मज़दूरों की मोल-तोल की ताक़त को कम करने में सफल हो जाता है। परिवार की मौजूदगी के चलते श्रमशक्ति के उत्पादन-पुनरुत्पादन के लिए सामाजिक ढाँचा खड़ा करने के बोझ से उसे छुटकारा मिल जाता है। घरेलू काम आभासी तौर पर पतियों की निजी सेवा लगता है, अतः पूँजीवाद स्त्रियों के असन्तोष-आक्रोश को पुरुषों के ख़िलाफ़ मोड़ देता है। दोनों ही पूँजी के हित में पूँजी द्वारा मूर्ख बनाये जाते हैं और स्त्रियों का उत्पीड़न करने वाली पुरुष मानसिकता पूँजी के वर्चस्व का एक कारगर उपकरण बन जाती है।

पूँजीवाद की आर्थिक बुनियाद में निहित यही जेण्डर-असमानता और स्त्री-उत्पीड़न स्त्री-विरोधी समस्त विचारों, संस्कृति और दमन-उत्पीड़न के सभी रूपों का मूल कारण है। अपनी चरम पतनशीलता की वर्तमान अवस्था में पूँजीवादी समाज अपने रहे-सहे जनवादी और मानवतावादी मूल्यों से जैसे-जैसे ज़्यादा से ज़्यादा रिक्त होता चला गया है, वैसे-वैसे सभी शोषित-उत्पीड़ित वर्गों और समुदायों की स्थिति बद से बदतर होती चली गयी है। पूँजीवादी संस्कृति का दैत्य स्त्रियों और बच्चों को अपना सबसे आसान शिकार बना रहा है। पूँजीवादी समाज में बढ़ता अलगाव सामाजिक व्यक्तित्व को विघटित करता जा रहा है। चरम व्यक्तिवाद का एक विकृत रूप सामाजिक जीवन के मूल्यविहीन ऐन्द्रिक सुखभोगवाद और निर्बन्ध-रुग्ण यौनाचार के बर्बर रूपों में सामने आ रहा है।

भारत जैसे देश में, जहाँ पूँजीवाद पुनर्जागरण-प्रबोधन-जनवादी क्रान्ति की प्रक्रिया से होकर नहीं, बल्कि औपनिवेशिक सामाजिक-आर्थिक संरचना के गर्भ से पैदा होकर, साम्राज्यवादी युग में, एक क्रमिक मन्थर प्रक्रिया से विकसित हुआ है, सामाजिक ताने-बाने में जनवादी मूल्यों का नितान्त अभाव है तथा प्राक्पूँजीवादी मूल्यों-मान्यताओं-संस्थाओं की प्रभावी मौजूदगी बनी हुई है। इन मूल्यों-मान्यताओं-संस्थाओं को भारतीय पूँजीवाद ने संसाधित और उत्पादित करके सहयोजित कर लिया है। नवउदारवाद की भूमण्डलीय लहर पिछले क़रीब ढाई दशकों के दौरान पूँजी के मुक्त प्रवाह के साथ, विश्व पूँजीवाद की रुग्ण संस्कृति की एक ऐसी आँधी लेकर आयी है जिसमें बीमार मनुष्यता की बदबू भरी हुई है। हमारे देश में नयी और पुरानी प्रतिक्रियावादी रुग्णताओं का एक विस्फोटक मिश्रण तैयार हुआ है। आर्थिक धरातल पर अतिलाभ निचोड़ने की होड़ में पूँजीपति कामगारों की हड्डियों का चूरा तक बनाकर बेचने को तैयार हैं, राजनीतिक धरातल पर, राज्यसत्ता ज़्यादा से ज़्यादा निरंकुश दमनकारी व्यवहार कर रही है और संसदीय जनवाद का खेल शीशे की दीवारों वाले हम्माम में पियक्कड़-भ्रष्ट-दुराचारी नंगों की धींगामुश्ती बनकर रह गया है, तथा, सांस्कृतिक-सामाजिक धरातल पर कदाचार-दुराचार-व्यभिचार के वीभत्सतम-बर्बरतम रूप सामने आ रहे हैं। स्त्रियों के विरुद्ध बढ़ते अपराधों और 16 दिसम्बर के दिल्ली सामूहिक बलात्कार काण्ड की प्रातिनिधिक घटना को इसी परिप्रेक्ष्य में समझा जा सकता है।

स्त्री-विरोधी बढ़ती बर्बरता केवल पूँजीवादी उत्पादन और विनिमय प्रणाली की स्वतःस्फूर्त परिणति मात्र नहीं है। पूँजीवादी लोभ-लाभ की प्रवृत्ति इसे बढ़ावा देने का काम भी कर रही है। जो भी बिक सके, उसे बेचकर मुनाफा कमाना पूँजीवाद की आम प्रवृत्ति है। पूँजीवादी समाज के श्रम-विभाजन जनित अलगाव ने समाज में जो ऐन्द्रिक सुखभोगवाद, रुग्ण-स्वच्छन्द यौनाचार और बर्बर स्त्री-उत्पीड़क यौन फन्तासियों की ज़मीन तैयार की है, उसे पूँजीपति वर्ग ने एक भूमण्डलीय सेक्स बाज़ार की प्रचुर सम्भावना के रूप में देखा है। सेक्स खिलौनों, सेक्स पर्यटन, वेश्यावृत्ति के नये-नये विविध रूपों, विकृत सेक्स, बाल वेश्यावृत्ति, पोर्न फिल्मों, विज्ञापनों आदि-आदि का कई हज़ार खरब डालर का एक भूमण्डलीय बाज़ार तैयार हुआ है। टी.वी., डी.वी.डी., कम्प्यूटर, इन्टरनेट, मोबाइल, डिजिटल सिनेमा आदि के ज़रिए इलेक्ट्रानिक संचार-माध्यमों ने सांस्कृतिक रुग्णता के इस भूमण्डलीय बाज़ार के निर्माण में प्रमुख भूमिका निभायी है। खाये-अघाये धनपशु तो स्त्री-विरोधी अपराधों और अय्याशियों में पहले से ही बड़ी संख्या में लिप्त रहते रहे हैं, भले ही उनके कुकर्म पाँच सितारा ऐशगाहों की दीवारों के पीछे छिपे होते हों या पैसे और रसूख के बूते दबा दिये जाते हों। अब सामान्य मध्यवर्गीय

(पेज 12 पर जारी)

पूँजीवाद आज सांस्कृतिक-आत्मिक धरातल पर मनोरोग, और अपराध की संस्कृति और अपराधी ही पैदा कर सकता है। ...लेकिन मानवद्रोही पूँजीवादी व्यवस्था को उखाड़ फेंकने की लड़ाई एक लम्बी लड़ाई है। तब तक स्त्रियों के विरुद्ध बढ़ती दरिन्दगी को हम बस यूँ ही चिन्ता और गुस्सा ज़ाहिर करते हुए देखते-भुगतते नहीं रह सकते। ...आज मेहनतकश जनसमुदाय को अपराधियों-लम्पटों का मुक़ाबला करने के लिए स्वयं संगठित होना होगा। हमें बस्तियों में, मुहल्लों में, गाँवों में, मज़दूरों के, स्त्रियों के, नौजवानों के और जागरूक नागरिकों के चौकसी दस्ते बनाने होंगे। नशा, अपराध, और अश्लील सामग्री बेचने वालों के अड्डों को संगठित होकर तबाह करना होगा। विशेषकर स्त्रियों की संगठित शक्ति को आगे आना होगा।

मुद्रक, प्रकाशक और स्वामी कात्यायनी सिन्हा द्वारा 69 ए-1, बाबा का पुरवा, निशातगंज, लखनऊ-226006 से प्रकाशित एवं उन्हीं के द्वारा मल्टीमीडियम, 310, संजय गांधीपुरम, फ़ैज़ाबाद रोड, लखनऊ से मुद्रित। सम्पादक : सुखविन्दर, अभिनव ● सम्पादकीय पता : 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006